

Chapter सात

प्रह्लाद ने गर्भ में क्या सीखा

इस अध्याय में प्रह्लाद महाराज अपने असुर सहपाठियों के संशयों को दूर करने के लिए बताते हैं कि किस प्रकार उन्होंने अपनी माता के गर्भ में रहते हुए नारद मुनि के मुख से उपदेश किये गये भागवत धर्म को सुना।

जब हिरण्यकशिपु अपना राज्य छोड़कर कठिन तपस्या करने के लिए मन्दराचल पर्वत चला गया तो सारे असुर (दैत्य) तितर-बितर हो गये। उस समय हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु गर्भवती थी और देवताओं ने इस धोखे से कि उसके गर्भ में एक दूसरा असुर है उसे बन्दी बना लिया। उनकी योजना थी कि जैसे ही बालक उत्पन्न होगा वे उसे मार डालेंगे। जब वे कयाधु को स्वर्गलोक ले जा रहे थे तो रास्ते में नारद मुनि से भेंट हुई जिन्होंने उसे स्वर्गलोक ले जाने से रोक दिया और उसे हिरण्यकशिपु के वापस आने तक अपने आश्रम में ले जाकर रखा। नारद मुनि के आश्रम में कयाधु ने अपने गर्भस्थ बालक की रक्षा के लिए प्रार्थना की। नारद मुनि ने उसे आश्वस्त किया और आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी

उपदेश दिये। यद्यपि प्रह्लाद महाराज अभी छोटे बच्चे के रूप में गर्भ में ही थे, किन्तु उन्होंने इन उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुना:—आत्मा सदैव शरीर से पृथक् रहता है। जीव के आध्यात्मिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। कोई भी व्यक्ति जो देहात्मबुद्धि से परे होता है, वह शुद्ध है और दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह दिव्य ज्ञान भक्ति है और प्रह्लाद महाराज ने अपनी माता के गर्भ में रहते हुए नारद मुनि से भक्ति सम्बन्धी उपदेश प्राप्त किये। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के उपदेशों के माध्यम से भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और माया के पाश से छूटकर सारे अज्ञान से तथा भौतिक इच्छाओं से छुट्टी पा लेता है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह परमेश्वर की शरण ग्रहण करे और इस प्रकार समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो ले। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी पद पर क्यों न हो इस सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। भक्ति तपस्या, योग या पवित्रता के भौतिक कार्यकलापों पर आश्रित नहीं होती। इनके न होने पर भी शुद्ध भक्त की कृपा से मनुष्य को भक्ति प्राप्त हो सकती है।

श्रीनारद उवाच

एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः ।

उवाच तान्स्मयमानः स्मरन्मदनुभाषितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—महान् सन्त नारद मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; दैत्य-सुतैः—दैत्य को पुत्रों द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; महा-भागवतः—भगवान् के महान् भक्त ने; असुरः—दैत्यों के वंश में उत्पन्न; उवाच—कहा; तान्—उनसे (असुर पुत्रों से); स्मयमानः—हँसते हुए; स्मरन्—स्मरण करते हुए; मत्-अनुभाषितम्—मेरे द्वारा कहा गया।

नारद मुनि ने कहा : यद्यपि प्रह्लाद महाराज असुरों के परिवार में जन्मे थे, किन्तु वे समस्त भक्तों में सबसे महान् थे। इस प्रकार अपने असुर सहपाठियों द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने मेरे द्वारा कहे गये शब्दों का स्मरण किया और अपने मित्रों से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज अपनी माता के गर्भ में थे तो उन्होंने नारद मुनि के शब्द सुने थे। कोई इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि गर्भस्थ बालक ने किस तरह नारद के शब्द सुने होंगे, किन्तु यह आध्यात्मिक जीवन है। आध्यात्मिक जीवन की प्रगति को कोई भी भौतिक दशा रोक नहीं सकती। यह अहैतुक्यप्रतिहता कहलाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के अर्जन को कोई भी भौतिक दशा रोक नहीं पाती। इस तरह प्रह्लाद महाराज बचपन से ही अपने मित्रों को अध्यात्म-ज्ञान बतलाते रहे। इसका प्रभाव भी पड़ता रहा, यद्यपि वे सभी बालक थे।

श्रीप्रह्लाद उवाच

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम् ।

युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच— प्रह्लाद महाराज ने कहा; पितरि—असुर पिता हिरण्यकशिपु के; प्रस्थिते—यहाँ से जाने पर; अस्माकम्—हमारे; तपसे—तपस्या करने के लिए; मन्दर-अचलम्—मन्दराचल नामक पर्वत पर; युद्ध-उद्यमम्—युद्ध करने का उद्योग; परम्—महान्; चक्रुः—सम्पन्न किया; विबुधाः—इन्द्र इत्यादि देवताओं ने; दानवान्—असुरों के; प्रति—प्रति ।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : जब हमारे पिता हिरण्यकशिपु कठिन तपस्या करने के लिए मन्दराचल पर्वत चले गये तो उनकी अनुपस्थिति में इन्द्र इत्यादि देवताओं ने युद्ध में सारे असुरों का दमन करने का घोर प्रयास किया ।

पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः ।

पापेन पापोऽभक्षीति वदन्तो वासवादयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

पिपीलिकैः—छोटी-छोटी चींटियों के द्वारा; अहिः—साँप; इव—सदृश; दिष्ट्या—ओह; लोक-उपतापनः—सदैव सबों का उन्नीड़न करने वाला; पापेन—अपने ही पाप कर्मों से; पापः—पापी हिरण्यकशिपु; अभक्षि—खा लिया गया; इति—इस प्रकार; वदन्तः—कहते हुए; वासव-आदयः—राज इन्द्र आदि देवता ।

“ओह! जिस प्रकार साँप को छोटी-छोटी चींटियाँ खा जाती हैं उसी प्रकार कष्टदायक हिरण्यकशिपु जो सभी प्रकार के लोगों पर कहर ढहाता था अपने ही पापकर्मों के कारण पराजित किया जा चुका है।” ऐसा कहकर इन्द्रादि देवताओं ने असुरों से लड़ने की योजना बनाई ।

तेषामतिबलोद्योगं निशम्यासुरयूथपाः ।

वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ ४ ॥

कलत्रपुत्रवित्ताप्तान्गृहान्पशुपरिच्छदान् ।

नावेक्ष्यमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—इन्द्र आदि देवताओं का; अतिबल-उद्योगम्—अत्यधिक शक्ति तथा उद्योग; निशम्य—सुन कर; असुर-यूथपाः—असुरों के महन नायक; वध्यमानाः—एक के बाद एक मारे जाकर; सुरैः—देवताओं द्वारा; भीताः—भयभीत; दुद्रुवुः—भाग गये; सर्वतः—समस्त; दिशम्—दिशाओं में; कलत्र—पत्नियाँ; पुत्र-वित्त—लड़के तथा सम्पत्ति; आप्तान्—सम्बन्धी; गृहान्—घरों को; पशु-परिच्छदान्—पशु तथा गृहस्थी के सामान को; न—नहीं; अवेक्ष्यमाणाः—देखते हुए; त्वरिताः—जल्दी-जल्दी; सर्वे—सभी; प्राण-परीप्सवः—जीवित रहने की अत्यधिक इच्छा करते हुए ।

एक के बाद एक मारे जाने पर जब असुरों के महान् नायकों ने लड़ाई में देवताओं का

अभूतपूर्व पराक्रम देखा, तो वे तितर-बितर होकर सभी दिशाओं में भागने लगे। अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए वे अपने घरों, पत्नियों, बच्चों, पशुओं तथा घर के सारे साज-समान को छोड़कर जल्दी-जल्दी भाग गये। उन्होंने इन सबकी परवाह नहीं की और मात्र भागना आरम्भ कर दिया।

व्यलुम्पन् राजशिविरममरा जयकाङ्क्षिणः ।
इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

व्यलुम्पन्—लूटा; राज-शिविरम्—मेरे पिता हिरण्यकशिपु के महल को; अमरा:—देवताओं ने; जय-काङ्क्षिणः—विजयी होने के लिए उत्सुक; इन्द्रः—देवताओं के प्रमुख राजा इन्द्र ने; तु—लेकिन; राज-महिषीम्—रानी; मातरम्—माता को; मम—मेरी; च—भी; अग्रहीत्—पकड़ लिया।

विजयी देवताओं ने असुरराज हिरण्यकशिपु के महल को लूट लिया और उसके भीतर की सारी वस्तुएँ नष्ट-भ्रष्ट कर दीं। तब स्वर्ग के राजा इन्द्र ने मेरी माता को बन्दी बना लिया।

नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव ।
यदृच्छयागतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

नीयमानाम्—ले जाई जाती हुई; भय-उद्विग्नाम्—उद्विग्न तथा भयभीत; रुदतीम्—रोती हुई; कुररीम् इव—कुररी पक्षी की तरह; यदृच्छया—दैववश; आगतः—आये हुए; तत्र—उस स्थान पर; देव-ऋषिः—परम सन्त नारद ने; ददृशे—देखा; पथि—रास्ते में।

जब इस प्रकार वे गृद्ध द्वारा पकड़ी गई कुररी पक्षी की भाँति भय से चिल्लाती हुई ले जाई जा रही थीं तो देवर्षि महर्षि नारद जो उस समय किसी भी कार्य में व्यस्त नहीं थे, घटनास्थल पर प्रकट हुए और उन्होंने उस अवस्था में उन्हें देखा।

प्राह नैनां सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम् ।
मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

प्राह—कहा; न—नहीं; एनाम्—इसको; सुर-पते—हे देवताओं के राजा; नेतुम्—घसीटने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; अनागसम्—पापरहित, निर्दोष; मुञ्च मुञ्च—छोड़ दो, छोड़ दो; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; सतीम्—सती; पर-परिग्रहम्—पराये पुरुष की पत्नी को।

नारद मुनि ने कहा : हे देवराज इन्द्र, यह स्त्री निश्चय ही पापरहित है। तुम्हें इसे इस तरह क्रूरतापूर्वक घसीटना नहीं चाहिए। हे परम सौभाग्यशाली, यह सती स्त्री किसी दूसरे की पत्नी

है। तुम इसे तुरन्त छोड़ दो।

श्रीइन्द्र उवाच

आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः ।

आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-इन्द्रः उवाच—राजा इन्द्र ने कहा; आस्ते—है; अस्याः—उसके; जठरे—उदर में; वीर्यम्—वीर्य; अविषह्यम्—असहनीय; सुर-द्विषः—देवताओं के शत्रु का; आस्यताम्—इसे रहने दें (हमारी कैद में); यावत्—जब तक; प्रसवम्—बच्चे का जन्म; मोक्ष्ये—मैं छोड़ दूँगा; अर्थ-पदवीम्—मेरे लक्ष्य का मार्ग; गतः—प्राप्त हुआ।

राजा इन्द्र ने कहा : इस असुरपत्नी के गर्भ में उस असुर हिरण्यकशिपु का वीर्य है। अतएव इसे तब तक हमारे संरक्षण में रहने दें जब तक बच्चा उत्पन्न नहीं हो जाता। तब हम इसे छोड़ देंगे।

तात्पर्य : स्वर्ग के राजा इन्द्र ने प्रह्लाद महाराज की माता को इसलिए बन्दी बनाना चाहा, क्योंकि उसने सोचा कि उसके गर्भ में दूसरा असुर, दूसरा हिरण्यकशिपु बैठा है। अतएव सर्वोत्तम उपाय यही होगा कि जब यह बच्चा उत्पन्न हो तो उसे मार डाला जाये और तब स्त्री को मुक्त कर दिया जाये।

श्रीनारद उवाच

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान् ।

त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—महान् सन्त नारद मुनि ने कहा; अयम्—यह (गर्भस्थ बालक); निष्किल्बिषः—पूर्णतया पापरहित; साक्षात्—प्रत्यक्ष; महा-भागवतः—सन्त भक्त; महान्—महान्; त्वया—तुम्हारे द्वारा; न प्राप्स्यते—नहीं प्राप्त करेगा; संस्थाम्—अपनी मृत्यु; अनन्त—भगवान् का; अनुचरः—दास; बली—अत्यन्त शक्तिशाली।

नारद मुनि ने उत्तर दिया: इस स्त्री के गर्भ में स्थित बालक निर्दोष या निष्पाप है। निस्सन्देह, वह महान् भक्त तथा भगवान् का शक्तिशाली दास है। अतएव तुम उसे मार पाने में सक्षम नहीं होगे।

तात्पर्य : ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जब असुरों या अभक्तों ने भक्त को मारने का प्रयास किया है, किन्तु वे भगवान् के महान् भक्त को कभी मार नहीं पाये। भगवान् भगवद्गीता (९.३१) में वचन देते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*। यह भगवान् की घोषणा है कि उनका भक्त असुरों द्वारा नहीं मारा जा सकता। प्रह्लाद महाराज इस वचन की सत्यता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। नारद मुनि ने

स्वर्ग के राजा से कहा “ भले ही तुम देवता क्यों न हो, तुम्हारे लिए और अन्यो के लिए भी इस बालक को मार पाना असम्भव होगा।”

इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन्वचः ।

अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—सम्बोधित होकर; ताम्—उसको; विहाय—छोड़ कर; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; देव-ऋषेः—नारद मुनि के; मानयन्—मानते हुए, सम्मान करते हुए; वचः—शब्दों का; अनन्त-प्रिय—भगवान् के प्रिय; भक्त्या—भक्ति से; एनाम्—इसको (स्त्री को); परिक्रम्य—परिक्रमा करके; दिवम्—स्वर्ग लोक को; ययौ—वापस चला गया ।

जब परम सन्त नारद मुनि ने इस प्रकार कहा तो राजा इन्द्र ने नारद के वचनों का सम्मान करते हुए तुरन्त ही मेरी माता को छोड़ दिया। चूँकि मैं भगवद्भक्त था, अतएव सब देवताओं ने मेरी माता की परिक्रमा की और तब वे सभी अपने अपने स्वर्गधाम को वापस चले गये।

तात्पर्य : यद्यपि राजा इन्द्र तथा अन्य देवता महापुरुष हैं, किन्तु वे नारद मुनि के इतने आज्ञाकारी हैं कि राजा इन्द्र ने प्रह्लाद महाराज सम्बन्धी मुनि के वचनों को तुरन्त स्वीकार कर लिया। यह परम्परा पद्धति द्वारा समझना कहलाता है। इन्द्र तथा देवता यह नहीं जानते थे कि हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु के गर्भ में एक महान् भक्त है, किन्तु उन्होंने नारद मुनि के प्रामाणिक कथन को स्वीकार कर लिया और तुरन्त ही उस गर्भिणी स्त्री की परिक्रमा करके उस भक्त को सम्मान प्रदान किया। परम्परा पद्धति द्वारा भगवान् तथा भक्त को समझना ज्ञान की विधि है। ईश्वर तथा उनके भक्त के विषय में सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक भक्त के कथनों को स्वीकार करे और समझने का प्रयत्न करे।

ततो मे मातरमृषिः समानीय निजाश्रमे ।

आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत्ते भर्तुरागमः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; मे—मेरी; मातरम्—माता को; ऋषिः—नारद ऋषि ने; समानीय—लाकर; निज-आश्रमे—अपने आश्रम में; आश्वास्य—आश्वासन देकर; इह—यहाँ; उष्यताम्—निवास करो; वत्से—मेरी बेटी; यावत्—जब तक; ते—तुम्हारे; भर्तुः—पति का; आगमः—आगमन, आना ।

प्रह्लाद महाराज ने आगे बताया: परम सन्त नारद मुनि मेरी माता को अपने आश्रम ले गये और यह कहकर सभी प्रकार से सुरक्षा का आश्वासन दिया “मेरी बेटी, तुम मेरे आश्रम में अपने

पति के वापस आने तक रहो ।”

तथेत्यवात्सीद्देवर्षेरन्तिके साकुतोभया ।

यावद्दैत्यपतिर्घोरान्तपसो न न्यवर्तत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार; अवात्सीत्—रहती रही; देव-ऋषेः—देवर्षि नारद के; अन्तिके—निकट; सा—वह (मेरी माता); अकुतो-भया—किसी भी प्रकार के भय के बिना; यावत्—जब तक; दैत्य-पतिः—मेरे पिता असुरराज हिरण्यकशिपु ने; घोरात्—अत्यन्त कठिन; तपसः—तपस्या; न—नहीं; न्यवर्तत—बन्द कर दिया ।

देवर्षि नारद के उपदेशों को मानकर मेरी माता बिना किसी प्रकार के भय के उनकी देख-रेख में तब तक रहती रही जब तक मेरे पिता दैत्यराज अपनी घोर तपस्या से मुक्त नहीं हो गये ।

ऋषिं पर्यचरत्तत्र भक्त्या परमया सती ।

अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

ऋषिम्—नारद मुनि की; पर्यचरत्—सेवा करती रही; तत्र—वहाँ (आश्रम में); भक्त्या—श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; परमया—परम; सती—आज्ञाकारी स्त्री; अन्तर्वत्नी—गर्भवती; स्व-गर्भस्य—अपने गर्भ के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; इच्छा—इच्छानुसार; प्रसूतये—सन्तान उत्पन्न करने के लिए ।

मेरी माता गर्भवती होने के कारण अपने गर्भ की सुरक्षा चाहती थीं और चाहती थीं कि पति के आगमन के बाद सन्तान उत्पन्न हो। इस तरह वे नारद मुनि के आश्रम पर रहती रहीं जहाँ वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नारद मुनि की सेवा करती रहीं ।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत (९.१९.१७) में में कहा गया है—

मात्रा स्वस्त्रा दुहिता वा नाविविक्तासनो भवेत् ।

बलवान् इन्द्रिग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

“मनुष्य को चाहिए कि वह स्त्री के साथ, चाहे उसकी माता, बहन या पुत्री ही क्यों न हो, एकान्त में न रहे।” यद्यपि एकान्त स्थान में पुरुष को स्त्री के साथ रहने के लिए पूरी तरह वर्जित किया गया है फिर भी नारद मुनि ने प्रह्लाद महाराज की तरुणी माता को आश्रय दिया जो अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धा से उनकी सेवा करती रहीं। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि नारद मुनि ने वैदिक आदेशों का उल्लंघन किया? निश्चय ही नहीं। ऐसे आदेश संसारी प्राणियों के लिए हैं, नारद तो संसारी श्रेणी से परे हैं। वे महान् सन्त हैं और दिव्य पद पर स्थित हैं। अतएव स्वयं तरुण होते हुए भी वे एक तरुणी स्त्री को

शरण देकर उसकी सेवा स्वीकार कर सकते थे। हरिदास ठाकुर ने भी एक वेश्या तरुणी से रात्रि के गहन अंधकार में बातें की थीं, लेकिन वह स्त्री उनके मन को विचलित न कर पाई। उल्टे, वह हरिदास ठाकुर के आशीर्वाद से शुद्ध भक्तिन या वैष्णवी बन गई। किन्तु सामान्य लोगों को ऐसे महान् भक्तों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। उन्हें स्त्रियों की संगति से दूर रहकर विधि-विधानों का कड़ाई से पालन करना चाहिए। किसी को नारद मुनि या हरिदास ठाकुर का अनुकरण नहीं करना चाहिए। कहा गया है—*वैष्णवे क्रिया-मुद्रा विज्ञे ना बुझय।* बड़ा से बड़ा विद्वान भी वैष्णव के आचरण को नहीं समझ सकता। कोई भी बिना भय के किसी वैष्णव की शरण में जा सकता है। अतएव पिछले श्लोक में स्पष्ट कहा गया है *देवर्षेरन्तिके साकुतोभया*—प्रह्लाद महाराज की माता कयाधु सभी प्रकार के भय से रहित होकर नारद मुनि के संरक्षण में रहती रहीं। इसी तरह नारद मुनि अपने दिव्य पद के कारण उस तरुणी के साथ अविचल भाव से रहते रहे। नारद मुनि, हरिदास ठाकुर तथा ऐसे ही आचार्य जिन्हें भगवान् के यश का प्रचार करने की विशेष शक्ति प्राप्त है कभी भौतिक पद तक नीचे नहीं उतर सकते। अतएव यह सर्वथा वर्जित है कि आचार्य को सामान्य मनुष्य माना जाये (*गुरुषु नरमतिः*)।

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः ।

धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः—नारद मुनि; **कारुणिकः**—पतितों पर अत्यधिक स्नेहिल या कृपालु; **तस्याः**—उसको; **प्रादात्**—उपदेश दिया; **उभयम्**—दोनों को; **ईश्वरः**—शक्तिमान नियन्ता नारद मुनि जो चाहे सो कर दे; **धर्मस्य**—धर्म का; **तत्त्वम्**—सत्य; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **च**—तथा; **माम्**—मुझको; **अपि**—विशेष रूप से; **उद्दिश्य**—इंगित करके; **निर्मलम्**—भौतिक कल्मष से रहित।

नारद मुनि ने गर्भ में स्थित मुझे तथा अपनी सेवा में लगी मेरी माता दोनों को उपदेश दिया।

चूँकि वे स्वभाव से पतितों पर अत्यन्त दयालु हैं, अतएव अपनी दिव्य स्थिति के कारण उन्होंने धर्म तथा ज्ञान के विषय में उपदेश दिये। ये उपदेश भौतिक कल्मष से रहित थे।

तात्पर्य : यहाँ पर कहा गया है—*धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च...निर्मलम्।* *निर्मलम्* शब्द निष्कलंक धर्म का सूचक है या यों कहें कि *भागवत धर्म* का सूचक है। सामान्यतया कर्मकाण्ड कल्मषग्रस्त धर्म के अंग होते हैं जिनसे लोग अपनी सम्पत्ति तथा समृद्धि बढ़ाकर लाभ उठाते हैं, लेकिन कल्मषहीन शुद्ध धर्म में ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना एवं तदनुसार कर्म करना निहित रहते हैं जिससे जीवन का सर्वोच्च मन्तव्य तथा भगवद्धाम की वापसी दोनों पूरे होते हैं। प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया कि

जीवन के प्रारम्भ से मनुष्य को भागवतधर्म के स्तर तक ऊपर उठना चाहिए (कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह) । भगवान् स्वयं भी शुद्ध कल्मषरहित धर्म की बात करते हैं जब वे भगवद्गीता (१८.६६) में कहते हैं— सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज—सारे धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आ जाओ। मनुष्य को ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना चाहिए और तब उसी के अनुसार कर्म करना चाहिए। यही भागवत धर्म है। भागवत धर्म का अर्थ है भक्तियोग।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

“भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करके मनुष्य तुरन्त ही अहैतुकी ज्ञान तथा संसार से विरक्ति प्राप्त कर लेता है।” (भागवत १.२.७) शुद्ध धर्म के पद पर स्थित होने के लिए मनुष्य को वासुदेव कृष्ण से सम्बन्धित भक्ति करनी चाहिए।

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे ।

ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात्स्मृतिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह (धर्म तथा ज्ञान विषयक उपदेश); तु—निस्सन्देह; कालस्य—समय के; दीर्घत्वात्—दीर्घ होने के कारण; स्त्रीत्वात्—स्त्री होने के कारण; मातुः—मेरी माता का; तिरोदधे—लुप्त हो गया; ऋषिणा—ऋषि द्वारा; अनुगृहीतम्—आशीर्वाद से; माम्—मुझको; न—नहीं; अधुना—आज; अपि—भी; अजहात्—छोड़ पाई; स्मृतिः—स्मृति (नारद मुनि के उपदेशों की)।

अधिक काल बीत जाने तथा स्त्री होने से अल्पज्ञ होने के कारण मेरी माता उन सारे उपदेशों

को भूल गई, किन्तु ऋषि नारद ने मुझे आशीर्वाद दिया था, अतएव मैं नहीं भूल पाया।

तात्पर्य : भगवद्गीता (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

“हे पृथापुत्र! जो मेरी शरण में आ जाते हैं—वे भले ही निम्नकुल में उत्पन्न स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र (श्रमिक) क्यों न हों—परम गति को प्राप्त होते हैं।” पापयोनि शब्द उन लोगों के लिए आया है, जो शूद्रों से भी निम्न हैं। किन्तु भले ही स्त्री पापयोनि न हो, लेकिन अल्पज्ञ होने के कारण वह कभी-कभी भक्ति के उपदेशों को भूल जाती है। परन्तु जो पर्याप्त बलवान् हैं उनके भूलने का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्यतया स्त्रियाँ भौतिक भोग के प्रति आसक्त होती हैं जिसके कारण वे कभी-कभी भक्ति के उपदेश

भूल जाती हैं। किन्तु चाहे वह स्त्री ही क्यों न हो, यदि विधिवत् भक्ति का पूर्ण अभ्यास करती है, तो भगवान् के ही कथन के अनुसार वह भगवद्धाम वापस जा सकती है (*तेऽपि यान्ति परां गतिम्*)। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करके विधि-विधानों का कड़ाई से पालन करना चाहिए। तब बिना भेदभाव के वह भगवद्धाम वापस जा सकेगा। प्रह्लाद महाराज की माता गर्भस्थ शिशु की रक्षा के प्रति अधिक चिन्तित थीं और अपने पति को वापस आते देखने के लिए उत्सुक थीं। अतएव वे नारद मुनि के भव्य उपदेशों पर गम्भीरता से विचार नहीं कर सकीं।

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्धधते वचः ।

वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

भवताम्—तुम लोगों की; अपि—भी; भूयात्—हो सकता है; मे—मेरा; यदि—यदि; श्रद्धधते—तुम विश्वास करो; वचः—शब्द; वैशारदी—अत्यन्त दक्ष, या परमेश्वर के प्रति; धीः—बुद्धि; श्रद्धातः—दृढ़ श्रद्धा के कारण; स्त्री—स्त्रियों के; बालानाम्—बालकों के; च—भी; मे—मेरा; यथा—जिस तरह।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे मित्रों, यदि तुम मेरी बातों पर श्रद्धा करो तो तुम भी उसी श्रद्धा से मेरे ही समान दिव्य ज्ञान को समझ सकते हो, भले ही तुम सभी छोटे-छोटे बालक क्यों न हो। इसी प्रकार एक स्त्री भी दिव्य ज्ञान को समझ सकती है और यह जान सकती है कि आत्मा क्या है तथा भौतिक पदार्थ क्या है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के ये शब्द परम्परा से चले आने वाले ज्ञान के प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रह्लाद महाराज अपनी माता के गर्भ में शिशु रूप में रहते हुए भी नारद के शक्तिशाली उपदेश को सुनकर परम शक्ति के अस्तित्व के विषय में पूर्णतः आश्चस्त थे और समझ गये थे किस प्रकार भक्तियोग द्वारा जीवन-सिद्धि प्राप्त की जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य हैं।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

“जो महापुरुष भगवान् तथा गुरु दोनों पर निश्चित श्रद्धा रखते हैं उन्हें वैदिक ज्ञान का सारा आशय स्वतः प्रकट हो जाता है।” (*श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३*)

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

“कोई भी व्यक्ति अपनी स्थूल भौतिक इन्द्रियों द्वारा कृष्ण को यथारूप में नहीं समझ सकता। वे भक्तों की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर अपने आपको प्रकट करते हैं।” (भक्तिरसामृत सिन्धु १.२.२३४)

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

“मनुष्य परम पुरुष को उनके यथारूप में केवल भक्ति द्वारा समझ सकता है। और जब वह ऐसी भक्ति से परमेश्वर की पूर्ण भावना में होता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।” (भगवद्गीता १८.५५)

ये वैदिक आदेश हैं। मनुष्य को गुरु के शब्दों में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए और भगवान् में भी ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए। तब आत्मा तथा परमात्मा का असली ज्ञान एवं भौतिक पदार्थ तथा आत्मा के मध्य का अन्तर स्वतः प्रकट हो जाएगा। यह आत्मतत्त्व या आध्यात्मिक ज्ञान भक्त के अन्तस्तल में प्रकट होगा, क्योंकि उसने प्रह्लाद महाराज जैसे महाजन के चरणकमलों की शरण ले ली है।

इस श्लोक में आगत भूयात् शब्द का अर्थ “जो हो सो” लिया जा सकता है। प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को यह कहकर आशीर्वाद देते हैं “तुम भी मेरे समान श्रद्धावान् बनो। प्रामाणिक वैष्णव बनो।” प्रत्येक भगवद्भक्त चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्णभावनामृत ग्रहण करे। किन्तु दुर्भाग्यवश कभी-कभी लोगों को परम्परा से चले आ रहे गुरु के शब्दों में प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं होती, अतएव वे दिव्य ज्ञान को समझ पाने में अक्षम रह जाते हैं। गुरु को प्रह्लाद महाराज की भाँति वैध परम्परा की श्रेणी में से होना चाहिए जिन्होंने नारद से ज्ञान प्राप्त किया। यदि असुरों के पुत्रों एवं प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों को प्रह्लाद से सत्य का पाठ सीखना होता तो वे निश्चित रूप से दिव्य ज्ञान से अवगत हो गये होते।

वैशारदी धीः शब्द भगवान् विषयक बुद्धि को सूचित करने वाले हैं, क्योंकि भगवान् अत्यधिक दक्ष हैं। उन्होंने अपनी दक्षता से अलौकिक ब्रह्माण्डों की सृष्टि की है। अत्यन्त दक्ष हुए बिना कोई भी परम दक्ष (पटु) की दक्ष-व्यवस्था को समझ नहीं सकता है। किन्तु यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि

उसे ब्रह्मा, शिव, माता लक्ष्मी या कुमारों से चली आ रही परम्परा का प्रामाणिक गुरु मिल जाये तो वह इसे समझ सकता है। ज्ञान तथा अध्यात्म के ये चार सम्प्रदाय क्रमशः ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय तथा कुमार सम्प्रदाय कहलाते हैं। सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः—ऐसे सम्प्रदाय या परम्परा से प्राप्त भगवद्ज्ञान मनुष्य को प्रबुद्ध कराने वाला है। यदि वह परम्परा मार्ग का अनुसरण नहीं करता तो भगवान् को समझ पाना असम्भव है। यदि कोई परम्परा में श्रद्धा के साथ भक्ति द्वारा परमेश्वर को समझता है और फिर आगे बढ़ता है, तो वह ईश्वर के प्रति अपने प्राकृतिक प्रेम को जागृत करता है। तब जीवन में उसकी सफलता निश्चित है।

जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः ।

फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

जन्म-आद्याः—जन्म से लेकर; षट्—छः (जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, रूपान्तर, क्षय तथा अन्त में मृत्यु); इमे—ये सब; भावाः—शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ; दृष्टाः—देखे जाते हैं; देहस्य—शरीर के; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा के; फलानाम्—फलों के; इव—सदृश; वृक्षस्य—वृक्ष के; कालेन—काल क्रम से; ईश्वर-मूर्तिना—जिसका स्वरूप रूपान्तर करने या शारीरिक कार्यकलापों को वश में करने की क्षमता है।

जिस प्रकार वृक्ष के फलों तथा फूलों में कालक्रम से छः प्रकार के परिवर्तन—जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, रूपान्तर, क्षय तथा अन्त में मृत्यु—होते हैं उसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में आत्मा को जो भौतिक शरीर प्राप्त होता है उसमें भी ऐसे ही परिवर्तन होते हैं। किन्तु आत्मा में ऐसे परिवर्तन नहीं होते।

तात्पर्य : आत्मा तथा भौतिक शरीर का अन्तर समझने के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आत्मा शाश्वत है, जैसाकि भगवद्गीता (२.२०) में कहा गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

“आत्मा का न तो जन्म होता है न मृत्यु। न ही एक बार अस्तित्व में आने पर कभी इसका विनाश होता है। यह अजन्मा, शाश्वत, सदा विद्यमान रहने वाला, न मरने वाला तथा सनातन है। इस शरीर का

वध किये जाने पर इसका वध नहीं होता।” आत्मा क्षय तथा परिवर्तन से मुक्त होने के कारण शाश्वत है, जबकि शरीर में क्षय तथा परिवर्तन होते रहते हैं। वृक्ष तथा उसके फल-फूलों का उदाहरण अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट है। वृक्ष अनेकानेक वर्षों तक खड़ा रहता है, किन्तु ऋतु-परिवर्तन के साथ इसके फूलों तथा फलों में छः परिवर्तन होते हैं। आधुनिक रसायनविदों का मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त कि जीवन रासायनिक अन्तक्रियाओं से उत्पन्न किया जा सकता है सच नहीं माना जा सकता। मनुष्य के भौतिक शरीर का जन्म शुक्र तथा रज के मिश्रण से होता है, किन्तु जन्म का इतिहास तो यह है कि कभी-कभी मैथुन के बाद रज तथा वीर्य के मिलने के बाद भी गर्भधारण नहीं होता। जब तक इस मिश्रण में आत्मा प्रवेश नहीं करता तब तक गर्भधारण की सम्भावना नहीं रहती, किन्तु मिश्रण में आत्मा का आश्रय मिलते ही शरीर का जन्म होता है, उसका अस्तित्व होता है, वह बढ़ता है, रूपान्तरित होता है, क्षीण होता है और अन्त में विनष्ट हो जाता है। वृक्ष में फल-फूल तो ऋतुओं के अनुसार आते-जाते रहते हैं, किन्तु वृक्ष खड़ा रहता है। इसी प्रकार देहान्तरशील जीव विविध शरीर स्वीकार करते हैं जिनमें छः परिवर्तन होते हैं, किन्तु आत्मा स्थायी रूप से वैसे का वैसे ही रहता है (*अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे*)। आत्मा शाश्वत है तथा सदा विद्यमान रहता है, किन्तु आत्मा द्वारा ग्रहीत शरीर बदलते रहते हैं।

आत्मा के दो प्रकार हैं—परमात्मा (भगवान्) तथा जीवात्मा (जीव)। जिस तरह जीवात्मा में विविध शारीरिक परिवर्तन होते रहते हैं उसी तरह परमात्मा में सृष्टि के विभिन्न कल्प घटित होते हैं। इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य कहते हैं—

षड् विकाराः शरीरस्य न विष्णोस्तद्गतस्य च।

तदधीनं शरीरं च ज्ञात्वा तन् ममतां त्यजेत् ॥

चूँकि शरीर आत्मा का बाह्य रूप है अतएव आत्मा शरीर पर आश्रित नहीं है, प्रत्युत शरीर आत्मा पर आश्रित है। जो इस सत्य को समझता है, वह अपने शरीर के पोषण के प्रति अधिक चिन्तित नहीं होता। शरीर को स्थायी रूप या शाश्वत रूप से धारण किये रहने की कोई सम्भावना नहीं है। *अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।* यह *भगवद्गीता* (२.१८) का कथन है। भौतिक शरीर अन्तवन्त (नाशवान) है, किन्तु शरीर के भीतर का आत्मा शाश्वत है (*नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*)। भगवान् विष्णु

तथा उनके अंश रूप सारे जीव शाश्वत हैं। *नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। भगवान् विष्णु मुख्य जीव हैं जबकि व्यक्तिगत जीव भगवान् विष्णु के अंश हैं। शरीर की सभी कोटियाँ—विराट् रूप से लेकर क्षुद्र चींटी तक नाशवान हैं, किन्तु परमात्मा तथा आत्मा गुण में एक से होने के कारण नित्य विद्यमान रहते हैं। अगले श्लोक में इसकी अधिक व्याख्या हुई है।

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः ।
 अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्गनावृतः ॥ १९ ॥
 एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः ।
 अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा, भगवान् का अंश; नित्यः—जन्म या मृत्यु से रहित; अव्ययः—क्षीण होने की सम्भावना से रहित; शुद्धः—आसक्ति तथा विरक्ति के भौतिक कल्मष से रहित; एकः—अकेला; क्षेत्र-ज्ञः—जानने वाला अतएव भौतिक शरीर से पृथक्; आश्रयः—मूल आधार; अविक्रियः—शरीर की तरह परिवर्तन नहीं होते; स्व-दृक्—आत्म-प्रकाशित; हेतुः—समस्त कारणों के कारण; व्यापकः—चेतना के रूप में सारे शरीर में फैला हुआ; असङ्गी—शरीर पर आश्रित न रहकर (एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करने के लिए मुक्त); अनावृतः—भौतिक कल्मष के द्वारा आच्छादित नहीं; एतैः—इन सबों के द्वारा; द्वादशभिः—बारह; विद्वान्—व्यक्ति जो मूर्ख नहीं हैं, अपितु वस्तुओं के यथारूप से परिचित हैं; आत्मनः—आत्मा के; लक्षणैः—लक्षणों से; परैः—दिव्य; अहम्—मैं (मैं यह शरीर हूँ); मम—मेरा (इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है); इति—इस प्रकार; असत्-भावम्—जीवन की मिथ्या धारणा; देह-आदौ—अपनी पहचान भौतिक देह से और फिर अपनी पत्नी, सन्तान, परिवार, या जाति, राष्ट्र आदि से करना; मोह-जम्—मोहमय ज्ञान से उत्पन्न; त्यजेत्—त्याग देना चाहिए।

‘आत्मा’ परमेश्वर या जीवों का सूचक है। ये दोनों ही आध्यात्मिक हैं, जन्म-मृत्यु से मुक्त हैं तथा क्षय से रहित एवं भौतिक कल्मष से भी मुक्त हैं। ये व्यष्टि हैं, ये बाह्य शरीर के ज्ञाता हैं, प्रत्येक वस्तु के आश्रय या आधार हैं। ये भौतिक परिवर्तन से मुक्त हैं, ये आत्मप्रकाशित हैं, ये समस्त कारणों के कारण हैं तथा सर्वव्यापी हैं। इन्हें भौतिक शरीर से कोई सरोकार नहीं रहता, अतएव ये सदैव अनाकृष्ट रहते हैं। इस दिव्य गुणों से युक्त जो मनुष्य वास्तव में विद्वान् है उसे जीवन की भ्रान्त धारणा का परित्याग करना चाहिए जिसमें वह सोचता है “मैं यह भौतिक शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है।”

Footnote starts Here:

१.आत्मा के आश्रय बिना भौतिक शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता।

२.जैसाकि पहले बताया जा चुका है वृक्ष में फल-फूल जन्म लेते हैं, लगे रहते हैं, बढ़ते हैं, रूपान्तरित होते हैं, क्षीण होते हैं और ऋतु-परिवर्तन के अनुसार विनष्ट होते हैं, किन्तु इतने सारे

परिवर्तनों के होते हुए भी वृक्ष वैसे का वैसे रहता है। इसी प्रकार आत्मा समस्त परिवर्तनों से मुक्त है।

३. किसी को आत्मा को प्रकट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वयं प्रकट है। मनुष्य सरलता से समझ सकता है कि जीवित शरीर में आत्मा है।

Footnote Ends Here.

तात्पर्य : भगवद्गीता (१५.७) में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं— *ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः—* सारे जीव मेरे अंश हैं। अतएव सारे जीव गुणात्मक रूप से भगवान् के ही समान हैं, जो समस्त जीवों के नायक या श्रेष्ठ हैं। वेदों में कहा गया है— *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्—* भगवान् प्रधान जीव हैं, अधीन जीवों के नायक हैं। चूँकि सारे जीव ईश्वर के प्रतिरूप या अंश हैं अतएव उनके गुण परमेश्वर के गुणों से भिन्न नहीं होते। जीवों के गुण भगवान् जैसे होते हैं जिस प्रकार समुद्र की एक बूँद की रासायनिक संरचना स्वयं विशाल समुद्र जैसी होती है। इस तरह गुण में एकत्व किन्तु मात्रा में अन्तर होता है। कोई व्यक्ति नमूने के रूप में जीव को समझकर भगवान् को समझ सकता है क्योंकि ईश्वर के सारे गुण जीवों में सूक्ष्म मात्रा में पाये जाते हैं। वैसे तो एकत्व होता है, किन्तु ईश्वर महान् है, जबकि जीव अत्यन्त क्षुद्र हैं। *अणोरणीयान् महतो महीयान्* (कठोपनिषद् १.२.२०)। सारे जीव परमाणु से भी छोटे हैं किन्तु ईश्वर महानतम से भी महान् है। महानता सम्बन्धी हमारी धारणा को आकाश द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि हम आकाश को असीमरूप से विशाल मानते हैं, किन्तु ईश्वर आकाश से भी विशाल है। इसी प्रकार हमें ज्ञात है कि सारे जीव अणुओं से भी छोटे हैं—आकार में बाल के अगले भाग के दस हजारवें भाग के तुल्य—फिर भी जीव तथा भगवान् दोनों में समस्त कारणों के परम कारण होने का गुण पाया जाता है। निस्सन्देह, जीव की उपस्थिति के कारण ही शरीर का अस्तित्व है और उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के भीतर परमेश्वर के होने से ही भौतिक नियमों द्वारा नियंत्रित परिवर्तन घटित होते हैं।

एकः शब्द महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि भगवद्गीता (९.४) में बताया गया है— *मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।* प्रत्येक वस्तु, चाहे भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, जिसमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश तथा जीव सम्मिलित हैं, आत्मा के पद पर स्थित है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु भगवान् से

उद्भूत है किन्तु कोई यह न सोचे कि भगवान् किसी अन्य वस्तु पर निर्भर हैं।

ईश्वर तथा जीव दोनों ही पूर्णतया सचेत हैं। जीवों के रूप में हम अपने शारीरिक अस्तित्व के प्रति सचेत हैं। इसी प्रकार भगवान् विराट दृश्य जगत के प्रति सचेत हैं। इसकी पुष्टि वेदों से होती है।
*यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षम्। विज्ञातारम् अधिकेन विजानीयात्। एकमेवाद्वितीयम्। आत्मज्योतिः
सम्राड् इहोवाच। स इमान् लोकान् असृजत। सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्। असङ्गो ह्ययं पुरुषः। पूर्णस्य
पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।* ये सारे वैदिक आदेश सिद्ध करते हैं कि भगवान् तथा लघु आत्मा दोनों व्यष्टि हैं। एक महान् है और दूसरा क्षुद्र किन्तु दोनों ही समस्त कारणों के कारण हैं—शरीर से सीमित किन्तु विश्व की दृष्टि से असीम।

हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि हम गुण में भगवान् के समान हैं किन्तु मात्रा में कभी भी उनके तुल्य नहीं हैं। अल्पज्ञ व्यक्ति अपने आपको गुण में ईश्वर के समान पाकर मूर्खतावश यह सोचने लगते हैं कि मात्रा में भी वे उन्हीं के तुल्य हैं। उनकी बुद्धि *अविशुद्ध बुद्धयः* अर्थात् असंस्कृत या कल्मषग्रस्त बुद्धि कहलाती है। जब ऐसे लोग अनेक जन्मों तक परम कारण को समझने का प्रयास करने के बाद वासुदेव कृष्ण का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, तो वे उनकी शरण में जाते हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)। इस प्रकार वे महात्मा बन जाते हैं। यदि कोई इतना भाग्यशाली होता है कि वह ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझ लेता है—यह जान लेता है कि ईश्वर महान् हैं (विभु) और आत्मा लघु (अणु) है, तो वह पूर्ण ज्ञान को प्राप्त माना जाता है। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह भौतिक शरीर है और शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु उसकी है, तो वह अंधकार में रहता है। यह *अहं मम (जनस्य मोहोऽयमहं ममेति)* है। यह मोह है। उसे अपनी भ्रान्त धारणा त्याग कर हर एक वस्तु से पूर्णतः अवगत हो जाना चाहिए।

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः

क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात् ।

क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगै-

रध्यात्मविद्वद्भागतिं लभेत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्वर्णम्—सोने को; यथा—जिस प्रकार; ग्रावसु—स्वर्ण खनिज के पत्थरों में; हेम-कारः—स्वर्ण के विषय में जानने वाला, विशेषज्ञ; क्षेत्रेषु—सोने की खानों में; योगैः—विभिन्न विधियों द्वारा; तत्-अभिज्ञः—जानकार जो यह जानता है कि सोना कहाँ

है; आप्तुयात्—सरलता से प्राप्त कर लेता है; क्षेत्रेषु—भौतिक खेतों में; देहेषु—मनुष्य शरीरों तथा शेष चौरासी लाख योनियों में; तथा—उसी प्रकार; आत्म-योगैः—आध्यात्मिक विधियों से; अध्यात्म-वित्—आत्मा तथा पदार्थ के अन्तर को समझने में पटु; ब्रह्म-गतिम्—आध्यात्मिक जीवन में सिद्धि; लभेत—प्राप्त कर सकता है।

एक दक्ष भूविज्ञानी समझ सकता है कि सोना कहाँ पर है और वह उसे स्वर्णखनिज में से विविध विधियों द्वारा निकाल सकता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक रूप से अग्रसर व्यक्ति यह समझ सकता है कि शरीर के भीतर किस तरह आध्यात्मिक कण विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है। फिर भी जिस प्रकार एक अनाड़ी यह नहीं समझ पाता कि सोना कहाँ पर है, उसी प्रकार जिस मूर्ख व्यक्ति ने आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन नहीं किया वह यह नहीं समझ सकता कि शरीर के भीतर आत्मा किस तरह विद्यमान रह सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया गया है। मूर्ख लोग, जिनमें तथाकथित ज्ञानी, दार्शनिक तथा विज्ञानी सम्मिलित हैं, शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकते क्योंकि उनमें आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव रहता है। वेदों का आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—आध्यात्मिक ज्ञान समझने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। जब तक कोई भूगर्भविज्ञान में प्रशिक्षित न हुआ हो, वह पत्थर में सोने की पहचान नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब तक कोई मनुष्य गुरु द्वारा प्रशिक्षित नहीं हो जाता वह आत्मा तथा पदार्थ के विषय में कुछ नहीं समझ सकता। यहाँ पर कहा गया है—*योगैस्तद् अभिज्ञः*। इससे सूचित होता है कि जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिक ज्ञान से रहता है, वह समझ सकता है कि शरीर के भीतर आध्यात्मिक आत्मा है। किन्तु जिसमें पशु-बुद्धि रहती है और आध्यात्मिक संस्कृति रहती ही नहीं वह इसे नहीं समझ सकता। एक दक्ष खनिजवेत्ता या भूगर्भशास्त्री यह समझ सकता है कि सोना कहाँ-कहाँ है और उसे निकालने के लिए वह धन लगा सकता है, एवं खनिज में से रासायनिक विधि से सोना निकाल लेता है। उसी तरह दक्ष अध्यात्मविद् (तत्त्ववेत्ता) भी समझ सकता है कि पदार्थ के भीतर आत्मा कहाँ है। जिसे प्रशिक्षण प्राप्त नहीं हुआ होता वह सोना तथा पत्थर में अन्तर नहीं बता सकता। इसी प्रकार जिन मूर्खों तथा धूर्तों ने दक्ष गुरु से यह नहीं सीखा कि आत्मा क्या है और पदार्थ क्या है, वह शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकता। ऐसे ज्ञान को समझने के लिए उस मनुष्य को योग प्रणाली में या अन्ततः भक्ति योग प्रणाली में प्रशिक्षित होना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में

कहा गया है— *भक्त्या मामभिजानाति*। जब तक कोई भक्तियोग की शरण नहीं ग्रहण करता तब तक वह शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकता, अतएव *भगवद्गीता* (२.१३) निम्नलिखित शिक्षा सिखाने से प्रारम्भ होती है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

“जिस प्रकार इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था में फिर वृद्धावस्था में जाता है उसी प्रकार आत्मा मृत्यु के समय दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध जीव ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।” इस प्रकार पहला उपदेश है कि शरीर के भीतर आत्मा रहता है और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता रहता है। आध्यात्मिक ज्ञान का यह शुभारम्भ है। जो व्यक्ति इस ज्ञान को समझने में दक्ष नहीं होता अथवा इसे समझने की परवाह नहीं करता वह देहात्मबुद्धि में पाशविक जीवन की विचारधारा में पड़ा रहता है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में की गई है (*यस्यात्मबुद्धिः कुण्ठे त्रिधातुके...स एव गोखरः*)। मानव समाज के प्रत्येक व्यक्ति को *भगवद्गीता* के उपदेशों को समझा चाहिए क्योंकि यही एक साधन है, जिससे कोई आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है और स्वतः इस मिथ्या भ्रामक ज्ञान को त्याग सकता है, जिसके कारण वह सोचता है “मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ मेरी हैं (*अहं ममेति*)।” कूकरों की सी इस धारणा को अविलम्ब त्यागना होगा। मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा या ईश्वर को समझने के लिए तैयार रहना चाहिए, क्योंकि ये परम्परा सम्बन्धित हैं। इस प्रकार जीवन की समस्याएँ हल करके मनुष्य भगवद्धाम वापस जा सकता है।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः ।

विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अष्टौ—आठ; प्रकृतयः—भौतिक शक्तियाँ; प्रोक्ताः—कही गयी हैं; त्रयः—तीन; एव—निश्चय ही; हि—निश्चित; तद्-गुणाः—भौतिक शक्ति के गुण; विकाराः—रूपान्तर, दोष; षोडश—सोलह; आचार्यैः—अधिकारियों द्वारा; पुमान्—जीव; एकः—एक; समन्वयात्—समन्वय से।

भगवान् की आठ भिन्न भौतिक शक्तियों, प्रकृति के तीन गुणों तथा सोलह विकारों (ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच स्थूल तत्त्व यथा पृथ्वी तथा जल) के अन्तर्गत एक ही आत्मा साक्षी के रूप में

विद्यमान रहता है। अतएव सारे महान् आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्मा इन्हीं भौतिक तत्त्वों द्वारा बद्ध है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है—*क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगैरध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत*—आध्यात्मिक रूप से अग्रसर व्यक्ति यह समझ सकता है कि शरीर के भीतर किस तरह आध्यात्मिक कण विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जो बुद्धिमान पुरुष शरीर के भीतर आत्मा का अनुसन्धान करने में पटु है उसे उन आठ बहिरंगा शक्तियों को समझना चाहिए जो *भगवद्गीता* (७.४) में सूचीबद्ध हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

“भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—ये आठों मेरी भिन्न भौतिक शक्तियाँ हैं। भूमि में सारे इन्द्रियबोध के विषय सम्मिलित हैं—रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श। गुलाब की सुगंध, मीठे फल का स्वाद तथा अन्य जो कुछ हम चाहते हैं, वह सब भूमि के ही अन्तर्गत आता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१०.४) में कहा गया है—*सर्वकामदुघा मही*—पृथ्वी (मही) में हमारी सारी आवश्यक वस्तुएँ हैं। इस प्रकार भूमि या पृथ्वी में सारे इन्द्रियबोध के विषय हैं। स्थूल भौतिक तत्त्व तथा सूक्ष्मतत्त्व (मन, बुद्धि तथा अहंकार) मिलकर सम्पूर्ण भौतिक शक्ति बनाते हैं।

इसी सम्पूर्ण भौतिक शक्ति में तीन गुण हैं। ये हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। ये आत्मा से नहीं, अपितु भौतिक शक्ति से सम्बद्ध हैं। इन्हीं तीन तत्त्वों की अन्योन्य क्रिया से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा उनका नियंत्रक मन प्रकट होते हैं। तब इन गुणों के अनुसार जीवात्मा विभिन्न प्रकार के कर्मों को विभिन्न प्रकार के ज्ञान, विचार, अनुभूति तथा इच्छा से सम्पन्न करने का अवसर प्राप्त करता है। इस प्रकार शारीरिक यंत्र कार्य करना प्रारम्भ करता है।

इसका समुचित विश्लेषण बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा, विशेष रूप से देवहूति-पुत्र भगवान् कृष्ण के अवतार कपिल द्वारा, *सांख्य योग* में हुआ है। यहाँ पर इसका संकेत *आचार्यै* शब्द से हुआ है। हमें चाहिए कि जो वैध आचार्य न हो उसका अनुगमन न करें। *आचार्यवान् पुरुषो वेद*—दक्ष आचार्य की शरण ग्रहण करने पर ही सत्य को पूरी तरह समझा जा सकता है।

जीव अकेला है लेकिन शरीर कई भौतिक तत्त्वों का संघटन है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि ज्योंही जीव भौतिक तत्त्वों के इस संघटन को छोड़ देता है त्योंही वह पदार्थ का निरा संघट्ट बन जाता है। गुणात्मक रूप से पदार्थ एक है और आत्मा भी परमात्मा के साथ एक है। परमात्मा एक है तथा आत्मा (जीव) भी एक है, किन्तु आत्मा को व्यष्टि भौतिक शक्ति के संयोग का नियन्ता माना जाता है, जबकि परमेश्वर समग्र भौतिक शक्ति का नियंत्रक है। जीव अपने शरीर विशेष का स्वामी है और अपने कर्मों के अनुसार विविध सुख-दुख भोगता है, किन्तु परम पुरुष परमात्मा यद्यपि एक है, किन्तु वह विभिन्न शरीरों में व्यष्टि के रूप में उपस्थित है।

भौतिक शक्ति वस्तुतः चौबीस तत्त्वों में विभाजित है। आत्मा अथवा शरीर का स्वामी पच्चीसवाँ तत्त्व है और इन सबों के ऊपर परमात्मा रूप में भगवान् विष्णु हैं, जो छब्बीसवें तत्त्व हैं। जब कोई इन छब्बीसों तत्त्वों को जान लेता है, तो वह अध्यात्मवित् बन जाता है। जैसाकि भगवद्गीता (१३.३) में कहा गया है—*क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्—क्षेत्र (शरीर) तथा आत्मा और परमात्मा मिलकर असली ज्ञान की सृष्टि करते हैं। जब तक मनुष्य यह नहीं समझ लेता कि आत्मा से भगवान् का नित्य सम्बन्ध है तब तक उसका ज्ञान अधूरा रहता है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (७.१९) में हुई है—*

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

“अनेक जन्मों तथा मृत्युओं के बाद जो वास्तव में ज्ञानी है, वह मुझे समस्त कारणों का कारण जानते हुए मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।” प्रत्येक वस्तु, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, उन वासुदेव की विभिन्न शक्तियों से युक्त है जिनके अधीन आत्मा है, जो परमेश्वर का ही अंश है। इस पूर्ण ज्ञान को समझ लेने पर मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करता है (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)।

देहस्तु सर्वसङ्घातो जगत्स्थिरिति द्विधा ।

अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत्त्यजन् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; तु—लेकिन; सर्व-सङ्घातः—चौबीसों तत्त्वों का मेल; जगत्—चलायमान दिखने वाला चर; तस्थुः—तथा एक स्थान पर खड़ा, अचर; इति—इस प्रकार; द्विधा—दो प्रकार; अत्र एव—इस पदार्थ में; मृग्यः—खोजा जाना चाहिए; पुरुषः—

जीव, आत्मा; न—नहीं; इति—इस प्रकार; न—नहीं; इति—इस प्रकार; इति—इस प्रकार; अतत्—जो आत्मा नहीं है; त्यजन्—त्यागते हुए।

प्रत्येक जीवात्मा के दो प्रकार के शरीर होते हैं—पाँच स्थूल तत्त्वों से बना स्थूल शरीर तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों से बना सूक्ष्म शरीर। किन्तु इन्हीं शरीरों में आत्मा है। मनुष्य को चाहिए कि वह “यह नहीं है, यह नहीं है,” कहकर विश्लेषण द्वारा आत्मा का अनुसन्धान करे। इस तरह उसे आत्मा को पदार्थ से पृथक् कर लेना चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा गया है—*स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।* जो मिट्टी के अध्ययन में दक्ष हैं वह ज्ञात कर लेता है कि सोना कहाँ पर है और फिर वहीं खोदता है। तब वह पत्थर का विश्लेषण कर सकता है और सोने की परीक्षा नाइट्रिक अम्ल से कर सकता है। इसी प्रकार शरीर के भीतर आत्मा ढूँढने के लिए मनुष्य को सारे शरीर का विश्लेषण करना चाहिए। अपने शरीर का विश्लेषण करते समय मनुष्य को अपने आपसे यह पूछना चाहिए कि क्या उसका सिर आत्मा है, क्या उसकी अँगुलियाँ आत्मा हैं, क्या हाथ आत्मा हैं, आदि-आदि। इस प्रकार उसे एक-एक करके सारे भौतिक तत्त्वों एवं शरीर में इन तत्त्वों के मेलों को नकार देना चाहिए। तब यदि कोई पटु है और आचार्य का अनुगमन करता है, तो वह समझ सकता है कि वह शरीर के भीतर रहने वाला आत्मा है। *भगवद्गीता* (२.१३) में सर्वोच्च आचार्य कृष्ण अपनी शिक्षाएँ इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

“जिस तरह इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था में और फिर वृद्धावस्था में जाता है उसी प्रकार मृत्यु के समय आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।” आत्मा के शरीर होता है और वह शरीर के भीतर रहता है। यही असली विश्लेषण है। आत्मा कभी शारीरिक तत्त्वों में मिल नहीं पाता। यद्यपि आत्मा शरीर के भीतर रहता है, किन्तु यह पृथक् और सदैव शुद्ध रहने वाला है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना विश्लेषण करे और अपने आपको समझे। यही आत्म-साक्षात्कार है। *नेति-नेति* पदार्थ को नकारने की विश्लेषण विधि है। मनुष्य को चाहिए कि दक्षतापूर्वक ऐसा विश्लेषण करके यह समझे कि आत्मा कहाँ है। किन्तु जो दक्ष नहीं है, वह न तो सोना तथा मिट्टी में अन्तर कर सकता है, न ही शरीर तथा आत्मा में।

अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशतात्मना ।

स्वर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अन्वय—प्रत्यक्षतः; व्यतिरेकेण—तथा अप्रत्यक्ष रूप से; विवेकेन—प्रौढ़ विवेकता; उशता—शुद्ध हुआ; आत्मना—मन से; स्वर्ग—सृष्टि; स्थान—पालन; समाम्नायैः—तथा विनाश द्वारा; विमृशद्भिः—गम्भीर विश्लेषण करने वालों के द्वारा; असत्-वरैः—अत्यन्त धीर ।

धीर तथा दक्ष पुरुषों को चाहिए कि आत्मा का अनुसन्धान वैश्लेषिक अध्ययन के द्वारा शुद्ध हुए मनों से करें जो सृष्टि, पालन तथा संहार होने वाली सारी वस्तुओं से आत्मा के सम्बन्ध तथा अन्तर के रूप में किया गया हो ।

तात्पर्य : धीर व्यक्ति वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा स्वयं ही शरीर तथा आत्मा के अन्तर को जान सकता है। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति अपने शरीर में अपने हाथ, सिर इत्यादि पर विचार करता है, वह निश्चय ही आत्मा तथा शरीर के अन्तर को समझ सकता है। कोई यह नहीं कहता “मैं सिर हूँ।” सभी यह कहते हैं “मेरा सिर।” अतएव दो संज्ञाएँ हैं—‘सिर तथा मैं।’ वे एक नहीं हैं, यद्यपि वे एक संघट्ट प्रतीत होते हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है “जब हम शरीर का विश्लेषण करते हैं, तो उसमें हमें सिर, हाथ, पाँव, पेट, रक्त, अस्थियाँ, मूत्र, मल इत्यादि मिलते हैं किन्तु जब सबों पर विचार हो चुका होता है, तो फिर आत्मा कहाँ है?” किन्तु गम्भीर मनुष्य इस वैदिक उपदेश का लाभ उठाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। (तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१.१)

इस प्रकार वह समझ सकता है कि सिर, हाथ तथा पूरा शरीर आत्मा के आधार पर बड़ा हुआ है। यदि आत्मा भीतर है, तो शरीर, सिर, हाथ, पैर बढ़ते हैं, अन्यथा नहीं। मृत बालक नहीं बढ़ता क्योंकि उसमें आत्मा विद्यमान नहीं है। यदि शरीर के सतर्क विश्लेषण के बाद भी किसी को आत्मा का अस्तित्व न दिखे, तो यह अज्ञान ही है। भला भौतिकतावादी कार्यकलापों में पूरी तरह संलग्न व्यक्ति किस प्रकार उस आत्मा को समझ सकता है, जो एक बाल के अगले भाग के दस हजारवें भाग जितना छोटा है? ऐसा व्यक्ति मूर्खतावश सोचता है कि भौतिक शरीर रसायनों के मेल से बड़ा हुआ है, यद्यपि वह इन तत्त्वों को ढूँढ़ नहीं पाता। किन्तु वेद हमें बताते हैं कि रासायनिक मेल से प्राण नहीं बनता;

प्राण तो आत्मा तथा परमात्मा है और शरीर उसी प्राण के ही आधार पर बढ़ता है। वृक्ष में लगा फल वृक्ष की उपस्थिति के कारण ही बढ़ता है और उसमें छह प्रकार के परिवर्तन होते हैं। यदि वृक्ष न हो तो फल के बढ़ने तथा परिपक्व होने का प्रश्न ही न उठे। अतएव शरीर के अस्तित्व के परे शरीर के भीतर परमात्मा तथा आत्मा है। *भगवद्गीता* में बताये गये आध्यात्मिक ज्ञान की यह पहली जानकारी है। *देहिनोऽस्मिन् यथा देहे*—शरीर का अस्तित्व परमेश्वर तथा उन्हीं के अंशस्वरूप जीव की उपस्थिति के कारण होता है। इसकी आगे व्याख्या *भगवद्गीता* (९.४) में स्वयं भगवान् ने की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

“यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।” परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है। वेदों का आदेश है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है या कि ब्रह्म की शक्ति का विस्तार है। सूत्रे *मणिगणा इव*—प्रत्येक वस्तु भगवान् पर अवलम्बित है, जिस प्रकार मोती सूत्र द्वारा गूँथे रहते हैं। यह सूत्र प्रधान ब्रह्म है। यह परम कारण परमेश्वर है, जिस पर प्रत्येक वस्तु आधारित है (*मत्तः परतरं नान्यत*)। इस प्रकार हमें चाहिए कि आत्मा तथा परमात्मा का अध्ययन करें जिस पर यह सारा भौतिक विराट् जगत आश्रित है। इसकी व्याख्या इस वैदिक कथन से हो जाती है—
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः ।

ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

बुद्धेः—बुद्धि का; **जागरणम्**—जागरण या स्थूल इन्द्रियों की सक्रिय अवस्था; **स्वप्नः**—स्वप्न (स्थूल शरीर के बिना ही इन्द्रियों की सक्रियता); **सुषुप्तिः**—प्रगाढ़, निद्रा या सारे कार्यकलापों का बन्द होना (यद्यपि जीव दर्शक होता है); **इति**—इस प्रकार; **वृत्तयः**—विभिन्न कार्यकलाप; **ताः**—वे; **येन**—जिससे; **एव**—निस्सन्देह; **अनुभूयन्ते**—अनुभव किये जाते हैं; **सः**—वह; **अध्यक्षः**—साक्षी (जो कार्यकलापों से भिन्न है); **पुरुषः**—भोक्ता; **परः**—दिव्य ।

सक्रियता की तीन अवस्थाओं (वृत्तियों) में बुद्धि की अनुभूति की जा सकती है—जाग्रत,

स्वप्न तथा सुषुप्ति। जो व्यक्ति इन तीनों का अनुभव करता है उसे ही मूल स्वामी या शासक,

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : बुद्धि के बिना न तो कोई इन्द्रियों के प्रत्यक्ष कार्यकलापों को समझ सकता है, न स्वप्न

को और न समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म कार्यकलापों की समाप्ति को समझ सकता है। साक्षी तथा नियन्ता तो परमात्मा है, जिसके निर्देश से आत्मा जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त अवस्था में समझ सकता है। भगवान् भगवद्गीता (१५.१५) में कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति प्राप्त होती है। सारे जीव अपनी बुद्धि के कारण जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त इन तीन अवस्थाओं में लीन रहते हैं। यह बुद्धि उन भगवान् द्वारा प्रदत्त होती है, जो मित्र के रूप में आत्मा के साथ रहते हैं। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि जब जीव की बुद्धि सुख-दुख को कार्यकलापों के ऊपर अनुभव करके सक्रिय होती है, तो कभी-कभी उसे *सत्त्व बुद्धि* कहा जाता है। स्वप्न की अवस्था में भगवान् से ही ज्ञान प्राप्त होता है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। भगवान् या परमात्मा परम नियन्ता हैं और सारे उपनिदेशक उन्हीं के निर्देशन में हैं। मनुष्य को चाहिए कि अपनी बुद्धि से भगवान् को समझे।

एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः ।

स्वरूपमात्मनो बुध्येद्गन्धैर्वायुमिवान्वयात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एभिः—इन; त्रि-वर्णैः—तीन गुणों के द्वारा निर्मित; पर्यस्तैः—पूर्णतया तिरस्कृत (प्राण का स्पर्श न करने से); बुद्धि—बुद्धि के; भेदैः—प्रकारों से; क्रिया-उद्भवैः—विभिन्न कार्यकलापों से उत्पन्न; स्वरूपम्—स्वाभाविक स्थिति; आत्मनः—आत्मा की; बुध्येत्—समझना चाहिए; गन्धैः—गन्ध से; वायुम्—वायु को; इव—ठीक उसी तरह; अन्वयात्—घनिष्ठ सम्बन्ध से।

जिस प्रकार वायु की उपस्थिति उसके द्वारा ले जाई जाने वाली सुगन्धियों के द्वारा जानी जाती है उसी तरह भगवान् के निर्देशन में मनुष्य बुद्धि के इन तीन विभागों द्वारा जीवात्मा को समझ सकता है। किन्तु ये तीन विभाग आत्मा नहीं हैं, वे तीन गुणों से बने होते हैं और क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, हमारे अस्तित्व की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओं में हमारे अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं। इस तरह आत्मा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। वास्तव में शरीर की क्रियाएँ आत्मा की क्रियाएँ नहीं हैं। आत्मा शरीर से पृथक् है। जिस प्रकार सुगन्ध उस भौतिक माध्यम से भिन्न होती है, जिस में उसे ले जाया जाता है उसी प्रकार आत्मा भौतिक क्रियाओं से अनासक्त रहता है। ऐसा विश्लेषण वही कर सकता है, जो परमेश्वर के चरणकमलों में शरणागत है। इसकी पुष्टि इस वैदिक आदेश द्वारा होती है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं*

विज्ञातं भवति। यदि कोई भगवान् को समझ सकता है, तो वह अन्य बातें स्वतः ही समझ सकता है। भगवान् के चरणारविन्दों की शरण न ग्रहण करने के कारण बड़े-बड़े विद्वान, दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा धर्मवेत्ता भी सदैव मोहग्रस्त रहते हैं। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत (१०.२.३२) में हुई है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्

त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धयः ।

भले ही कोई अपने को भव-कल्मष से मुक्त क्यों न समझे, किन्तु यदि उसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं की है, तो उसकी बुद्धि दूषित रहती है। जैसाकि भगवद्गीता (३.४२) में कहा गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

इन्द्रियों से ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि है और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। अन्ततः जब मनुष्य की बुद्धि भक्ति द्वारा शुद्ध हो जाती है, तो वह बुद्धि योग में स्थित हो जाता है। इसकी भी व्याख्या भगवद्गीता में हुई है (ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते)। भक्ति के विकसित होने तथा मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होने पर वह अपनी बुद्धि का उपयोग भगवद्धाम वापस जाने में कर सकता है।

एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः ।

अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवार्प्यते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; द्वारः—जिसका द्वार; हि—निस्सन्देह; संसारः—भौतिक जगत जिसमें मनुष्य तीन प्रकार के कष्ट पाता है; गुण-कर्म-निबन्धनः—प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बन्दी बनना; अज्ञान-मूलः—जिसकी जड़ अज्ञान है; अपार्थः—निरर्थक; अपि—यद्यपि; पुंसः—जीव का; स्वप्नः—स्वप्न; इव—सदृश; अर्प्यते—रखा जाता है।

दूषित बुद्धि के कारण मनुष्य को प्रकृति के गुणों के अधीन रहना पड़ता है और इस प्रकार वह भवबन्धन में पड़ जाता है। इस संसार को, जिसका कारण अज्ञान है, उसी प्रकार अवांछित तथा नश्वर मानना चाहिए जिस प्रकार स्वप्नावस्था में मनुष्य को झूठे ही कष्ट भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : नश्वर जीवन की अवांछित दशा को ही अज्ञान कहते हैं। मनुष्य यह आसानी से समझ सकता है कि भौतिक देह नश्वर है, क्योंकि यह एक निश्चित तिथि पर सृजित होती है और जन्म, मृत्यु, वृद्धि, पालन, रूपान्तरण तथा क्षय इन छः अवस्थाओं को पार करके निश्चित तिथि पर इसका अन्त हो

जाता है। शाश्वत आत्मा की यह दशा उसके अज्ञान के कारण है और यद्यपि यह नश्वर है तथापि यह अवांछित है। अज्ञान के ही कारण मनुष्य को एक नश्वर शरीर के बाद दूसरे में रखा जाता है। किन्तु आत्मा को ऐसे नश्वर शरीर में प्रविष्ट होने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अपने अज्ञान के कारण या कृष्ण को विस्मृत करने के कारण ही ऐसा करता है। अतएव इस मानव जीवन में, जिसमें बुद्धि विकसित रहती है, मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्ण को समझने का प्रयास करते हुए अपनी भावना को बदले। तभी वह मुक्त हो सकेगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को त्यागने के बाद पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेता अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।” जब तक मनुष्य कृष्ण को समझता नहीं और कृष्णभावनामृत को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भव-बन्धन में पड़ा रहता है। इस बद्ध जीवन को समाप्त करने के लिए उसे *भगवान्* की शरण ग्रहण करनी चाहिए। निस्सन्देह, भगवान् यही चाहते हैं— *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।*

जैसाकि महाराज ऋषभदेव ने उपदेश दिया है— *न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः ।* मनुष्य को इतना समझदार तो होना ही चाहिए कि वह यह समझे कि यद्यपि यह शरीर नश्वर है और बहुत काल तक नहीं रहेगा, किन्तु जब तक यह शरीर है तब तक कष्ट भोगना होगा। अतएव यदि वह अच्छी संगति से किसी प्रामाणिक गुरु के उपदेशों से कृष्णभावनामृत ग्रहण कर ले तो उसके बद्ध जीवन का अन्त हो सकता है और उसकी मूल भावना, जो कि कृष्णभावनामृत कहलाती है, पुनः जागृत हो सकती है। जब कोई कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह समझ सकता है कि यह जीवन, चाहे जाग्रत अवस्था में हो या स्वप्न अवस्था में हो, स्वप्नवत् ही रहता है और उसका वास्तविक महत्त्व नहीं रहता। यह अनुभूति भगवान् की कृपा से सम्भव है। यह कृपा *भगवद्गीता* के उपदेशों के रूप में उपलब्ध है। अतएव हर एक के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु का सन्देश है कि वह मानव समाज के हर एक मूर्ख व्यक्ति को जाग्रत करने के लिए कल्याण कार्यों में लग जाये जिससे वह भी कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त कर सके और बद्ध जीवन से मुक्ति-लाभ कर सके।

इस सम्बन्ध में श्री मध्वाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

दुःखरूपोऽपि संसारो बुद्धिपूर्वम् अवाप्यते ।

यथा स्वप्ने शिरश्छेदं स्वयं कृत्वात्मनो वशः ॥

ततो दुःखमवाप्येत तथा जागरितोऽपि तु ।

जानन्नप्यात्मनो दुःखमवशस्तु प्रवर्तते ॥

मनुष्य को समझना चाहिए कि भौतिक जीवन दुखों से पूर्ण है, इसे शुद्ध बुद्धि द्वारा ही समझा जा सकता है। जब मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है, तो वह यह समझ सकता है कि अवांछित नश्वर भौतिक जीवन स्वप्नतुल्य है। जिस प्रकार स्वप्न में सिर काटे जाने पर मनुष्य को पीड़ा का अनुभव होता है, उसी प्रकार अज्ञान में वह न केवल स्वप्न में, अपितु जाग्रत अवस्था में भी कष्ट पाता है। भगवान् की कृपा बिना वह अज्ञान में पड़ा रहता है और नाना प्रकार के भौतिक कष्टों को भोगता है।

तस्माद्बुद्धिः कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ।

बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; भवद्भिः—तुम लोगों द्वारा; कर्तव्यम्—करणीय; कर्मणाम्—सारे भौतिक कार्यकलापों का; त्रि-गुण-आत्मनाम्—प्रकृति के तीन गुणों द्वारा; बीज-निर्हरणम्—बीज का जलना; योगः—परमेश्वर से जुड़ने की विधि; प्रवाह—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के रूप में निरन्तर धारा की; उपरमः—समाप्ति; धियः—बुद्धि का।

अतएव हे मित्रो, हे असुर पुत्रो, तुम्हारा कर्तव्य है कि कृष्णभावनामृत को ग्रहण करो जो प्रकृति के गुणों द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न सकाम कर्मों के बीज को जला सकता है और जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त अवस्था में बुद्धि के प्रवाह को रोक सकता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत ग्रहण करने पर मनुष्य का अज्ञान तुरन्त विनष्ट हो जाता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।” भक्तियोग कि अभ्यास द्वारा मनुष्य तुरन्त ही आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के कार्य-कारणों से परे है। अज्ञान की जड़

भौतिक चेतना है, जिसे आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत द्वारा काटा जा सकता है। *बीजनिर्हरणम्* शब्द भौतिक जीवन के मूल कारण को भस्मसात करने को बताता है। *मेदिनी कोश* में मोह की परिभाषा उसके फल के रूप में दी गई है—*योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु*। जब कोई अज्ञान के कारण विषम परिस्थिति में फँस जाता है, तो वह जिस विधि से इससे मुक्त हो पाता है, वह योग है। इसे ही मुक्ति भी कहते हैं। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*। मुक्ति का अर्थ है अज्ञान या मोह की उस स्थिति का परित्याग जिससे वह अपनी स्वाभाविक स्थिति के विपरीत सोचता है। अपनी स्वाभाविक स्थिति में लौट आने को *मुक्ति* कहते हैं और जिस विधि से यह किया जाता है, वह *योग* है। इस प्रकार योग कर्म, ज्ञान तथा सांख्य से बढ़कर है। निस्सन्देह, योग जीवन का चरम लक्ष्य है इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी कि वह योगी बन जाये (*तस्माद् योगी भवार्जुन*)। भगवान् कृष्ण ने आगे भी *भगवद्गीता* (६.४७) में उपदेश दिया है कि उच्च श्रेणी का योगी वह है, जिसने भक्ति का पद प्राप्त कर लिया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

“समस्त योगियों में जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दिव्य प्रेमाभक्ति में मेरी पूजा करते हुए सदैव मुझी में लगा रहता है, वह मुझसे योग द्वारा घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा रहता है और सबों में श्रेष्ठ होता है।” अतएव जो व्यक्ति अपने हृदय में कृष्ण का सदैव चिन्तन करता है, वह *सर्वश्रेष्ठ* योगी है। इस सर्वश्रेष्ठ योग प्रणाली का अभ्यास करके वह भौतिक दशा से मुक्त हो जाता है।

तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः ।

यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस सम्बन्ध में (भवबन्धन से छूटने में); उपाय—विधियों में; सहस्राणाम्—हजारों; अयम्—यह; भगवता उदितः—भगवान् द्वारा प्रदत्त; यत्—जो; ईश्वरे—ईश्वर में; भगवति—भगवान् में; यथा—जिस प्रकार; यैः—जिसके द्वारा; अञ्जसा—तेजी से; रतिः—प्रेम तथा स्नेह से आसक्ति।

भौतिक जीवन से छूटने के लिए जितनी विधियाँ संस्तुत हैं उनमें से उस एक को जिसे स्वयं भगवान् ने बताया है और स्वीकार किया है, सभी तरह से पूर्ण समझना चाहिए। वह विधि है कर्तव्य का सम्पन्न किया जाना जिससे परमेश्वर के प्रति प्रेम विकसित होता है।

तात्पर्य : उन अनेक योग विधियों में से जो मनुष्य को भव-कल्मष के बन्धन से ऊपर उठाती हैं उस एक विधि को जिसे भगवान् ने संस्तुत किया है सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। यह विधि *भगवद्गीता* में स्पष्टतः बतलाई गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—सारे धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण ग्रहण करो। यह विधि सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् आश्वस्त करते हैं—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः*—मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम डरो मत। चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि स्वयं भगवान् आश्वस्त कर रहे हैं कि वे अपने भक्त की रखवाली करेंगे और उसे पापकर्मों के फलों से बचा लेंगे। भवबन्धन पापकर्मों का ही फल है। इसलिए चूँकि भगवान् आश्वस्त कर रहे हैं कि वे सकाम कर्मों के फलों को दूर कर देंगे, अतएव चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। इसीलिए आत्मा के रूप में अपनी स्थिति को समझने तथा अपने को भक्ति में लगाने की विधि सर्वोत्तम है। सम्पूर्ण वैदिक कार्यक्रम इसी सिद्धान्त पर टिका है और मनुष्य इसे वेदों में संस्तुत की गई विधि से समझ सकता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

“जो महापुरुष भगवान् तथा गुरु दोनों पर गूढ़ श्रद्धा रखते हैं उन्हें वैदिक ज्ञान का सारा आशय स्वतः प्रकट हो जाता है।” (*श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३*) मनुष्य को चाहिए कि ईश्वर के प्रतिनिधि स्वरूप शुद्ध भक्त को अपना गुरु मान ले और उसे भगवान् के ही समान आदर प्रदान करे। यही सफलता का रहस्य है। जो इस विधि को ग्रहण करता है उसे पूरी विधि ज्ञात हो जाती है। इस श्लोक में *यैरञ्जसा रतिः* शब्द यह बताते हैं कि गुरु की सेवा करने तथा उसकी शरण ग्रहण करने से मनुष्य को भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति करने से वह धीरे-धीरे भगवान् में आसक्त हो जाता है। भगवान् के प्रति इस आसक्ति के कारण वह भगवान् को समझ सकता है। दूसरे शब्दों में, वह यह समझ सकता है कि भगवान् की स्थिति क्या है, हमारी स्थिति क्या है और हमारा सम्बन्ध क्या है? भक्तियोग की सरल विधि द्वारा यह सब सरलता से समझा जा सकता है। ज्योंही मनुष्य भक्तियोग पद को प्राप्त होता है त्योंही उसके कष्ट तथा उसके भव-बन्धन का मूल कारण नष्ट हो जाता है। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले श्लोक में की गई है, जो सफलता के रहस्य को बताता है।

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च ।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥ ३० ॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात्तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गुरु-शुश्रूषया—प्रामाणिक गुरु की सेवा द्वारा; भक्त्या—श्रद्धा तथा भक्ति से; सर्व—समस्त; लब्ध—भौतिक लाभों के; अर्पणेन—अर्पण से (गुरु को या गुरु के माध्यम से कृष्ण को); च—तथा; सङ्गेन—संगति से; साधु-भक्तानाम्—भक्तों तथा साधु पुरुषों की; ईश्वर—भगवान् की; आराधनेन—पूजा से; च—तथा; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धापूर्वक; तत्-कथायाम्—भगवान् की कथाओं में; च—तथा; कीर्तनैः—यशोगान द्वारा; गुण-कर्मणाम्—भगवान् के दिव्य गुणों तथा कर्मों का; तत्—उसके; पाद-अम्बुरुह—चरणकमलों पर; ध्यानात्—ध्यान से; तत्—उसका; लिङ्ग—स्वरूप (अर्चाविग्रह); ईक्ष—दर्शन; अर्हण-आदिभिः—तथा पूजा द्वारा ।

मनुष्य को प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना चाहिए और अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धा से उसकी सेवा करनी चाहिए। उसके पास जो कुछ भी हो उसे गुरु को अर्पित करना चाहिए और सन्त पुरुषों तथा भक्तों की संगति में भगवान् की पूजा करनी चाहिए, श्रद्धापूर्वक भगवान् के यश का श्रवण करना चाहिए, भगवान् के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों का यशोगान करना चाहिए, सदैव भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए तथा शास्त्र एवं गुरु के आदेशानुसार भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि जिस विधि से भगवान् के प्रति प्रेम तथा स्नेह तुरन्त बढ़े वह इस भव-बन्धन से मुक्त होने के हजारों उपायों में सर्वश्रेष्ठ है। कहा गया है—*धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्*—वास्तव में धर्म के सिद्धान्तों का सत्य अत्यन्त गुह्य होता है। फिर भी यदि कोई धर्म के नियमों को वास्तव में स्वीकार कर ले तो इसे सरलता से समझा जा सकता है। जैसाकि कहा गया है—*धर्म तु साक्षात् भगवत्प्रणीतम्*—धर्म की विधि परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित है, क्योंकि वे परमसत्ता हैं। पिछले श्लोक में भी इसे *भगवतोदितः* शब्द द्वारा सूचित किया गया है। भगवान् के आदेश अच्युत हैं और उनके लाभ पूर्णतः निश्चित हैं। उनके आदेशानुसार धर्म का पूर्ण स्वरूप भक्तियोग है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है।

भक्तियोग का अभ्यास करने के पूर्व प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना चाहिए। श्रील रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.७४-७५) में उपदेश दिया है—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादिशिक्षणम् ।

विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्तमानुवर्तनम् ॥

सद्धर्म पृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे ।

मनुष्य का पहला कर्तव्य है कि प्रामाणिक गुरु स्वीकार करे। छात्र या शिष्य को अत्यन्त जिज्ञासु होना चाहिए, उसे सनातन धर्म के विषय में पूर्ण सत्य जानने के लिए उत्सुक रहना चाहिए। गुरु शुश्रूषया शब्दों का अर्थ है कि वह स्वयं गुरु को शारीरिक सुविधाएँ प्रदान करके जैसे स्नान करते, वस्त्र बदलते, सोते, खाते समय सहायता पहुँचा कर उनकी सेवा करे। यह गुरु शुश्रूषणम् कहलाता है। शिष्य दास की भाँति गुरु की सेवा करे और उसके पास जो कुछ भी हो उसे गुरु को समर्पित कर दे। प्राणैः अर्थैर्धिया वाचा। प्रत्येक व्यक्ति के पास जीवन, सम्पत्ति, बुद्धि तथा वाणी होती है और इन सबों को गुरु के माध्यम से भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए। गुरु को सब कुछ कर्तव्य के रूप में अर्पित कर देना चाहिए, किन्तु यह भेंट भौतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए बनावटी ढंग से नहीं, अपितु हृदय से की जानी चाहिए। यह भेंट अर्पण कहलाती है। इसके साथ ही शिष्टाचार सीखने तथा भक्ति का समुचित आचरण करने के लिए उसे भक्तों तथा सन्त पुरुषों के साथ रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि गुरु को जो कुछ भी अर्पित किया जाये वह प्रेम तथा स्नेहपूर्वक किया जाये, भौतिक स्तवन के लिए नहीं। इसी प्रकार यह भी संस्तुति की गई है कि मनुष्य भक्तों की संगति करे, किन्तु उसे तनिक विवेक से काम लेना होगा। वास्तव में साधु को अपने आचरण में सन्त जैसा होना चाहिए (साधवः सदाचाराः)। जब तक वह आदर्श आचरण में दृढ़ नहीं रहता उसका साधु पद पूर्ण नहीं है। अतएव एक वैष्णव या साधु को आदर्श आचरण में दृढ़ और पूर्ण रहना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि वैष्णव का सम्मान वैष्णव के योग्य होना चाहिए जिसका अर्थ है कि उसकी सेवा की जानी चाहिए तथा स्तवन किया जाना चाहिए। किन्तु यदि वह संगति के उपयुक्त व्यक्ति नहीं है, तो उसकी संगति नहीं करनी चाहिए।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।

इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

हरिः— भगवान्; सर्वेषु— समस्त; भूतेषु— जीवों में; भगवान्— परम पुरुष; आस्ते— स्थित है; ईश्वरः— सर्वश्रेष्ठ नियन्ता; इति— इस प्रकार; भूतानि— सारे जीव; मनसा— ऐसी समझ से; कामैः— इच्छाओं से; तैः— उन; साधु मानयेत्— मनुष्य को चाहिए कि अत्यधिक आदर करे।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को उनके अन्तर्यामी प्रतिनिधि स्वरूप में परमात्मा को सदैव स्मरण करे, जो प्रत्येक जीव के अंतःकरण में स्थित हैं। इस प्रकार उसे जीव की स्थिति या स्वरूप के अनुसार प्रत्येक जीव का आदर करना चाहिए।

तात्पर्य : हरिः सर्वेषु भूतेषु— कभी-कभी ढोंगी लोग इस कथन को ठीक से न समझने के कारण यह झूठा निष्कर्ष निकालते हैं कि चूँकि हरि अर्थात् भगवान् प्रत्येक जीव में स्थित हैं, अतएव प्रत्येक जीव हरि है। ऐसे मूर्ख लोग प्रत्येक शरीर में स्थित आत्मा तथा परमात्मा में अन्तर नहीं कर पाते। आत्मा तो जीव है और परमात्मा भगवान् हैं, किन्तु जीव परमात्मा या परमेश्वर से भिन्न है। अतएव हरिः सर्वेषु भूतेषु का अर्थ यह हुआ कि हरि परमात्मा के रूप में स्थित हैं, आत्मा के रूप में नहीं, यद्यपि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। प्रत्येक जीव को आदर देने का अर्थ प्रत्येक जीव में स्थित परमात्मा का आदर करना है। प्रत्येक जीव को परमात्मा नहीं मान लेना चाहिए। कभी-कभी ढोंगी लोग जीव को दरिद्र नारायण, स्वामी नारायण, यह नारायण, वह नारायण जैसे नाम प्रदान करते हैं। हमें यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि यद्यपि नारायण प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान हैं, किन्तु जीव कभी नारायण नहीं बन सकता।

एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।

वासुदेवे भगवति यया संलभ्यते रतिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्— इस प्रकार; निर्जित— दमन किया गया; षट्-वर्गैः— इन्द्रियों के छह लक्षणों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर) से; क्रियते— की जाती है; भक्तिः— भक्ति; ईश्वरे— परम नियन्ता में; वासुदेवे— भगवान् वासुदेव में; भगवति— भगवान्; यया— जिससे; संलभ्यते— प्राप्त की जाती है; रतिः— आसक्ति।

इन (उपर्युक्त) कार्यकलापों द्वारा मनुष्य शत्रुओं— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या— के प्रभाव को दमन करने में समर्थ होता है और ऐसा कर लेने पर वह भगवान् की सेवा कर सकता है। इस प्रकार वह भगवान् की प्रेमाभक्ति को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक ३०-३१ में उल्लेख किया जा चुका है, मनुष्य का पहला काम है कि वह भगवान् के प्रतिनिधि, गुरु, की सेवा प्रारम्भ करने के लिए उनके पास पहुँचे। प्रह्लाद महाराज ने

प्रस्ताव रखा कि छोटे बालक को (कौमार आचरेत् प्राज्ञः) प्रारम्भ से ही गुरुकुल में रहकर गुरु की सेवा करने की शिक्षा दी जाये। ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम् (भागवत ७.१२.१)। यह आध्यात्मिक जीवन का सूत्रपात है। गुरुपादाश्रमः साधु-वर्तमानवर्ततम्, सद्धर्भ-पृच्छ गुरु तथा शास्त्रों के आदेशों का पालन करते हुए शिष्य भक्ति प्राप्त करता है और सम्पत्ति से अनासक्त हो जाता है। उसके पास जो कुछ होता है, उसे वह अपने गुरु को अर्पित कर देता है और वह उसे श्रवणं कीर्तनं विष्णोः में प्रवृत्त करता है और शिष्य दृढ़तापूर्वक आज्ञापालन करके अपनी इन्द्रियों को वश में करना सीखता है। फिर अपनी शुद्ध बुद्धि का प्रयोग करके वह धीरे-धीरे भगवान् का प्रेमी बन जाता है, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने पुष्ट किया है (आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गः)। इस प्रकार मनुष्य-जीवन पूर्ण बन जाता है और कृष्ण के प्रति उसकी आसक्ति प्रकट हो जाती है। इस अवस्था में वह आनन्द को प्राप्त होता है और भाव तथा अनुभाव की अनुभूति करता है जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है।

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगदगदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; कर्माणि—दिव्य कार्यकलापों को; गुणान्—आध्यात्मिक गुणों का; अतुल्यान्—असामान्य (जो सामान्य पुरुष में नहीं दिखते); वीर्याणि—अत्यन्त शक्तिमान; लीला-तनुभिः—अनेक लीला स्वरूपों के द्वारा; कृतानि—किये गये; यदा—जब; अतिहर्ष—अत्यन्त प्रसन्नता के कारण; उत्पुलक—रोमांच; अश्रु—आँखों में आँसू; गदगदम्—अवरुद्ध कण्ठ; प्रोत्कण्ठः—खुले स्वर से; उद्गायति—उच्च स्वर से कीर्तन करता है; रौति—रोता है; नृत्यति—नाचता है।

जो भक्ति के पद पर आसीन हो जाता है, वह निश्चय ही इन्द्रियों का नियंत्रक है और इस तरह वह एक मुक्त पुरुष हो जाता है। जब ऐसा मुक्त पुरुष या शुद्ध भक्त विभिन्न लीलाएँ करने के लिए भगवान् के अवतारों के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों के विषय में सुनता है, तो उसके शरीर में रोमांच हो आता है, उसकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं और आध्यात्मिक अनुभूति के कारण उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है। कभी वह नाचता है, तो कभी जोर-जोर से गाता है और कभी रोने लगता है। इस प्रकार वह अपने दिव्य हर्ष को व्यक्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के कार्यकलाप असामान्य होते हैं। उदाहरणार्थ, जब वे रामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए तो उन्होंने समुद्र पर पुल बनाने का असामान्य कार्य किया। इसी प्रकार जब भगवान् कृष्ण प्रकट

हुए तो उन्होंने सात वर्ष की ही अवस्था में गोवर्धन पर्वत उठा लिया। ये असामान्य कार्य हैं। मूर्ख तथा धूर्त दिव्य पद को प्राप्त नहीं हुए होते लोग जो वे भगवान् के इन असामान्य कार्यों को पौराणिक या काल्पनिक मानते हैं। किन्तु जब मुक्त व्यक्ति या भक्त भगवान् के इन असामान्य कार्यकलापों के विषय में सुनता है, तो वह तुरन्त ही आनन्द-विभोर हो उठता है और कीर्तन करने, नाचने तथा जोर-जोर से प्रसन्न होकर रोने के लक्षण प्रकट करता है। भक्त तथा अभक्त के बीच यही अन्तर है।

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-

त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।

मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते

नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; ग्रह-ग्रस्त:—प्रेत द्वारा सताया गया; इव—सदृश; क्वचित्—कभी; हसति—हँसता है; आक्रन्दते—जोर से चिल्लाता है (भगवान् के दिव्य गुणों का स्मरण करके); ध्यायति—ध्यान करता है; वन्दते—नमस्कार करता है; जनम्—सारे जीवों को (उन्हें भगवान् की सेवा में प्रवृत्त सोचकर); मुहुः—निरन्तर; श्वसन्—तेजी से साँस लेते; वक्ति—बोलता है; हरे—हे प्रभु; जगत्-पते—हे सम्पूर्ण संसार के स्वामी; नारायण—हे नारायण; इति—इस प्रकार; आत्म-मतिः—भगवान् के विचारों में पूर्णतया मग्न; गत-त्रपः—लज्जारहित।

जब भक्त प्रेतग्रस्त व्यक्ति के समान बन जाता है, तो वह हँसता है और उच्च स्वर से भगवान् के गुणों के विषय में कीर्तन करता है। कभी वह ध्यान करने बैठता है और कभी प्रत्येक जीव को भगवान् का भक्त मानते हुए प्रणाम करता है। लगातार तेज साँस लेता हुआ वह सामाजिक शिष्टाचार के प्रति बेपरवाह हो जाता है और पागल व्यक्ति की तरह जोर-जोर से “ हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, हे भगवान्, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, ” का उच्चारण करता है।

तात्पर्य : जब कोई बाह्य सामाजिक रीतियों की परवाह न करते हुए हर्ष में भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो यह समझा जाता है कि वह आत्ममति है। दूसरे शब्दों में, उसकी चेतना भगवान् की ओर मुड़ जाती है।

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-

स्तद्धावभावानुकृताशयाकृतिः ।

निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा

भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; पुमान्—जीव; मुक्त—मुक्त; समस्त-बन्धनः—भक्ति पथ के समस्त अवरोधों से; तत्-भाव—भगवान् के कार्यकलापों की स्थिति के; भाव—चिन्तन से; अनुकृत—उसी प्रकार का बनाया हुआ; आशय-आकृतिः—जिसका मन तथा शरीर; निर्दग्ध—पूर्णतया जला हुआ; बीज—बीज या जगत का मूल कारण; अनुशयः—इच्छा; महीयसा—अत्यन्त शक्तिशाली; भक्ति—भक्ति का; प्रयोगेण—सम्प्रयोग से; समेति—प्राप्त करता है; अधोक्षजम्—भगवान् को, जो मन तथा ज्ञान की पहुँच से परे हैं।

तब भक्त सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, क्योंकि वह निरन्तर भगवान् की लीलाओं के विषय में सोचता रहता है और उसका मन तथा शरीर आध्यात्मिक गुणों में बदल चुके होते हैं। उसकी उत्कट भक्ति के कारण उसका अज्ञान, भौतिक चेतना तथा समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाएँ जलकर पूर्णतया भस्म हो जाती हैं। यही वह अवस्था है जब मनुष्य भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : जब भक्त पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, तो वह अन्याभिलाषिताशून्य बन जाता है। दूसरे शब्दों में, उसकी सारी इच्छाएँ जलकर भस्म हो जाती हैं और वह भगवान् के दास, मित्र, पिता, माता या प्रेमी के रूप में रहने लगता है। इस प्रकार से निरन्तर सोचते रहने के कारण उसके वर्तमान शरीर तथा मन पूर्णतया आध्यात्मिक बन जाते हैं और उसके भौतिक शरीर की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। यदि लोहे की शलाका को आग में रख दिया जाये तो वह गरम होती जाती है और जब वह पूर्णतया लाल हो जाती है, तो वह शलाका नहीं रहती, अपितु आग बन जाती है। इसी प्रकार जब कोई भक्त निरन्तर भक्ति में लगा रहता है और अपनी मूल कृष्णचेतना में भगवान् का चिन्तन करता रहता है, तो उसके सारे भौतिक कार्यकलाप समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि उसका शरीर आध्यात्मिक हो जाता है। कृष्णभावनामृत में प्रगति अत्यन्त शक्तिशाली होती है अतएव इसी जीवन में ऐसे भक्त को भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त हो जाती है। भक्त की यह दिव्य आनन्दमयी (भावविभोर) स्थिति श्री चैतन्य महाप्रभु में पूर्णतया प्रकट थी। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य लिखते हैं—

तद्भावभावः तद् यथा स्वरूपं भक्तिः

केचिद् भक्ता विनृत्यन्ति गायन्ति य यथेप्सितम्

केचित् तूष्णीं जपन्त्येव केचित् शोभयकारिणः ।

भक्ति की आनन्दमयी स्थिति श्री चैतन्य महाप्रभु में पूर्णतया प्रकट थी जो कभी नाचते थे, तो कभी चिल्लाते, कभी गाते, कभी मौन हो जाते और कभी भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करते थे। यही पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति है।

अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः

शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।

तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-

स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अधोक्षज—भगवान् से, जो भौतिकतावादी मन या प्रायोगिक ज्ञान की पहुँच से परे हैं; आलम्भम्—निरन्तर सम्पर्क में रहते हुए; इह—इस भौतिक जगत में; अशुभ-आत्मनः—जिसका मन भौतिकता से कलुषित है; शरीरिणः—देहधारी जीव का; संसृति—संसार का; चक्र—चक्र; शातनम्—पूर्णतया रोकते हुए; तत्—वह; ब्रह्म-निर्वाण—परब्रह्म या परम सत्य से जुड़ा हुआ; सुखम्—दिव्य सुख; विदुः—समझो; बुधाः—आध्यात्मिक दृष्टि से आगे बढ़े हुए; ततः—इसलिए; भजध्वम्—भक्ति में लग जाओ; हृदये—हृदय के भीतर; हृत्-ईश्वरम्—हृदय के भीतर परमात्मा को।

जीवन की असली समस्या जन्म-मृत्यु का चक्र है, जो पहिये (चक्र) की भाँति बारम्बार ऊपर-नीचे चलता रहता है। किन्तु जब कोई भगवान् के सम्पर्क में रहता है, तो यह चक्र पूरी तरह रुक जाता है। दूसरे शब्दों में, भक्ति में निरन्तर मग्न रहने से जो दिव्य आनन्द मिलता है उससे वह इस संसार से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। सारे विद्वान व्यक्ति इसे जानते हैं। अतएव हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, तुम सभी लोग तुरन्त अपने-अपने हृदय में स्थित परमात्मा का ध्यान और पूजन प्रारम्भ कर दो।

तात्पर्य : सामान्यतया यह समझा जाता है कि परम सत्य के निराकार ब्रह्म स्वरूप में लीन होने से मनुष्य पूर्णतया सुखी हो जाता है। *ब्रह्म निर्वाण* शब्द परम सत्य से जुड़ने के लिए द्योत्तक हैं जिसे तीन स्वरूपों में अनुभव किया जाता है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दते*। मनुष्य को निराकार ब्रह्म में लीन होने पर *ब्रह्मसुख* का अनुभव होता है, क्योंकि *ब्रह्मज्योति* भगवान् का तेज है। *यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि*। *यस्य प्रभा* या निराकार ब्रह्म कृष्ण के दिव्य शरीर की किरणें हैं। अतएव मनुष्य को ब्रह्म में लीन होने से जो भी सुख मिलता है, वह कृष्ण के सम्पर्क के कारण है। कृष्ण से सम्पर्क पूर्ण *ब्रह्मसुख* है। जब मन निराकार ब्रह्म के सम्पर्क में रहता है, तो मनुष्य प्रसन्न होता है, किन्तु मनुष्य को भगवान् की सेवा करने के लिए और आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि वह *ब्रह्मज्योति* में लीन रहे ही। जैसाकि कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनाहत युष्मदङ्घ्रयः*—कोई भले ही परम सत्य के ब्रह्म स्वरूप से तदाकार हो ले किन्तु सम्भावना बनी रहती है कि वह अधोक्षज वासुदेव से परिचित न होने के कारण च्युत हो जाये। निस्सन्देह, ऐसे *ब्रह्मसुख* से

भौतिक सुख विलग हो जाता है किन्तु जब कोई निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा से होता हुआ दास, मित्र, पिता या प्रेमी के रूप में भगवान् के पास पहुँचता है, तो उसका सुख सर्वव्यापी बन जाता है। तब उसे स्वतः दिव्य आनन्द का अनुभव होता है, जिस तरह कि चमकते चन्द्रमा को देखकर सुख होता है। चन्द्रमा को देखकर मनुष्य को प्राकृतिक सुख प्राप्त होता है, किन्तु जब वह भगवान् का दर्शन करता है, तो उसका दिव्य सुख सैकड़ों-हजारों गुणा बढ़ जाता है। ज्योंही वह भगवान् से घनिष्ठतापूर्वक जुड़ जाता है त्योंही वह सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। *या निर्वृतिस्तनुभृताम्।* समस्त भौतिक सुख की समाप्ति *निर्वृति* या *निर्वाण* कहलाती है। श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.१.३८) में कहते हैं—

ब्रह्मानन्दो भवेद् एष चेत् परार्धगुणीकृतः ।

नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥

“यदि ब्रह्मानन्द को, अर्थात् ब्रह्मज्योति में लीन होने से आनन्द को १०० करोड़ गुना कर दिया जाय, तो भी वह भक्ति में अनुभव किये गये दिव्य आनन्द के सागर के एक परमाणु के बराबर भी नहीं होगा।”

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मदभक्तिं लभते पराम् ॥

“जो आध्यात्मिक पद पर स्थित होता है उसे तुरन्त परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। न तो वह शोक प्रकट करता है न किसी वस्तु की इच्छा करता है। वह समस्त जीवों पर सम भाव रखता है। इस दशा में उसे भगवान् की शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है” (*भगवद्गीता* १८.५४)। यदि कोई *ब्रह्मनिर्वाण* पद से आगे बढ़ता है, तो वह भक्ति अवस्था को प्राप्त होता है (*मदभक्तिं लभते पराम्*)। *अधोक्षजालम्भम्* शब्द मन को उन परम सत्य में लगाये रखने का सूचक है, जो मन तथा भौतिक चिन्तन के परे हैं। *स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः।* यह अर्चाविग्रह पूजा का फल है। निरन्तर भगवान् की सेवा करते रहने तथा उनके चरणकमलों का ही चिन्तन करने से मनुष्य स्वतः सारे भौतिक कल्मष से छूट जाता है। इस प्रकार *ब्रह्म-निर्वाण-सुखम्* शब्द यह बताता है कि जब कोई परम सत्य के सम्पर्क में रहता है, तो *विषय-वासना पूर्णतया* समाप्त हो जाती है।

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-

रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः ।

स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां

सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कः—क्या; अति-प्रयासः—कठिन प्रयास; असुर-बालकाः—हे असुरपुत्रो; हरेः—भगवान् की; उपासने—भक्ति करने में; स्वे—अपने; हृदि—हृदय में; छिद्र-वत्—अवकाश की तरह; सतः—सदैव विद्यमान; स्वस्य—अपना या जीव का; आत्मनः—परमात्मा का; सख्युः—शुभचिन्तक मित्र; अशेष—असीम; देहिनाम्—देहधारी जीवों का; सामान्यतः—सामान्य रूप से; किम्—क्या आवश्यकता है; विषय-उपपादनैः—इन्द्रियभोग के लिए इन्द्रिय प्रदान करने वाली क्रियाओं से।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, परमात्मा रूप में भगवान् सदैव समस्त जीवों के अंतःकरण में विद्यमान रहते हैं। निस्सन्देह, वे सारे जीवों के शुभचिन्तक तथा मित्र हैं और भगवान् की पूजा करने में कोई कठिनाई भी नहीं है। तो फिर, लोग उनकी भक्ति क्यों नहीं करते? वे इन्द्रियतृप्ति के लिए कृत्रिम साज-सामान बनाने में व्यर्थ ही क्यों लिप्त रहते हैं?

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। फिर भी, यदि कोई भगवान् का भक्त हो तो भगवान् उसे सहज ही प्राप्य हैं। भगवान् की तुलना आकाश से की जाती है, क्योंकि आकाश विस्तृत होकर भी सबों की, मनुष्यों की क्या पशुओं तक की, पहुँच में है। भगवान् परमात्मा रूप में श्रेष्ठ हितैषी तथा सखा के रूप में विद्यमान रहते हैं। जैसी कि वेदों में पुष्टि की गई है—*सयुजौ सखायौ*। भगवान् परमात्मा रूप में सदैव जीव के साथ हृदय में स्थित रहते हैं। वे जीव के इतने घनिष्ठ मित्र होते हैं कि हृदय के भीतर रहते जाते हैं जिससे कोई भी बिना किसी कठिनाई के उनसे सदा सम्पर्क स्थापित कर सकता है। इसे कोई भी भक्ति के द्वारा कर सकता है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्*)। ज्योंही मनुष्य भगवान् का श्रवण करता है (*कृष्णकीर्तन*) त्योंही भगवान् से उसका सम्पर्क स्थापित हो जाता है। भक्ति की किसी एक या सभी विधियों से भक्त तुरन्त ही भगवान् के सम्पर्क में आता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम् ॥

अतः भगवान् से सम्पर्क होने में कोई कठिनाई नहीं होती (*कोऽति प्रयासः*)। दूसरी ओर, नरक जाने में काफी प्रयत्न करना होता है। यदि कोई अवैध यौन, मांसाहार, द्यूत क्रीड़ा तथा मादक द्रव्यसेवन

द्वारा नरक जाना चाहे तो उसे इतनी सारी चीजें ग्रहण करनी होती हैं। अवैध यौन के लिए वेश्यालय जाने के लिए धन का प्रबन्ध करना होगा, मांसाहार के लिए अनेक कसाईघर खोलने होंगे, द्यूतक्रीड़ा के लिए नाचघरों तथा होटलों की व्यवस्था करनी होगी तथा मादकद्रव्य सेवन के लिए अनेक हौलियाँ खोलनी होंगी। स्पष्ट है कि यदि कोई नरक जाना चाहता है, तो उसे काफी परिश्रम करना होगा, किन्तु यदि वह भगवद्धाम जाना चाहे तो किसी भी कठिन प्रयास की आवश्यकता नहीं होगी। भगवद्धाम जाने लिए वह कहीं भी एकान्त में किसी भी दशा में रह कर, भूमि पर बैठ कर परमात्मा का ध्यान धर सकता है और भगवान् के विषय में कीर्तन तथा श्रवण कर सकता है। भगवान् के पास जाने में कोई कठिनाई नहीं होती। *अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रम्।* इन्द्रियों को वश में न कर पाने के कारण नरक जाने के लिए अनेक प्रयास करने होंगे, किन्तु यदि वह विचारवान् हो तो सरलता से भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है, क्योंकि भगवान् निरन्तर उसके साथ रहते हैं। भगवान् तो *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* की सरल विधि से प्रसन्न होते हैं। निस्सन्देह, भगवान् का कहना है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥

“यदि कोई मुझे भक्तिपूर्वक एक पत्ता, फूल, फल या जल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।” (*भगवद्गीता* ९.२६) भगवान् का ध्यान कहीं भी और सर्वत्र किया जा सकता है। इस तरह प्रह्लाद महाराज ने अपने मित्र असुरपुत्रों को उपदेश दिया कि वे बिना कठिनाई के भगवद्धाम लौट जाने का मार्ग ग्रहण करें।

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो

गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः ।

सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः

कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

रायः—सम्पत्ति; कलत्रम्—अपनी पत्नी तथा सखियाँ; पशवः—गाय, घोड़े, गधे, बिल्ली, कुत्ते जैसे घरेलू पशु; सुत-आदयः—पुत्र इत्यादि; गृहाः—बड़े-बड़े महल तथा आवास; मही—भूमि; कुञ्जर—हाथी; कोश—खजाना; भूतयः—तथा इन्द्रियतृप्ति एवं भोगविलास की अन्य सामग्रियाँ; सर्वे—सभी; अर्थ—आर्थिक विकास; कामाः—तथा इन्द्रियतृप्ति; क्षण-भङ्गुर—क्षण भर में विनाश-शील; आयुषः—आयु वाले का; कुर्वन्ति—करते हैं या लाते हैं; मर्त्यस्य—मरने वाले का; कियत्—कितना; प्रियम्—आनन्द; चलाः—क्षणिक या चलायमान।

मनुष्य का धन, सुन्दर स्त्री तथा सखियाँ, उसके पुत्र तथा पुत्रियाँ, उसका घर, उसके घरेलू पशु जैसे गाएँ, हाथी तथा घोड़े, उसका खजाना, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति, यहाँ तक कि उसकी आयु जिसमें वह इन भौतिक ऐश्वर्यों का भोग कर सकता है निश्चित रूप से क्षणभंगुर एवं नश्वर हैं। चूँकि मनुष्य जीवन का अवसर अस्थायी है अतएव ये सारे भौतिक ऐश्वर्य ऐसे समझदार व्यक्ति को कौन सा लाभ पहुँचा सकते हैं जिसने अपने आपको शाश्वत समझ रखा है?

तात्पर्य : यह श्लोक बताता है कि आर्थिक विकास का दम भरने वाले किस प्रकार प्रकृति के नियमों द्वारा निराश होते हैं। जैसाकि पिछले श्लोक में पूछा गया है कि *विषयोपपादनैः*—तथाकथित आर्थिक विकास का वास्तविक लाभ क्या है? विश्व इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि भौतिक सभ्यता के विकास द्वारा शारीरिक सुविधा के लिए आर्थिक विकास करने के प्रयत्नों से जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग की अनिवार्यता का उपचार नहीं हो पाया। हर एक को विश्व इतिहास के बड़े-बड़े साम्राज्यों, यथा रोम, मुगल या ब्रिटिश साम्राज्यों का ज्ञान है, किन्तु ऐसे आर्थिक विकास में लगे रहने वाले ये सारे समाज (*सर्वेऽर्थकामाः*) बारम्बार होने वाले युद्धों, बीमारियों, दुर्भिक्षों इत्यादि के माध्यम से प्रकृति के नियमों द्वारा ध्वस्त होते रहे हैं। इस तरह उनके सारे प्रयास क्षणभंगुर तथा अस्थायी हैं। अतएव इस श्लोक में कहा गया है—*कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः*—भले ही कोई अपने विशाल साम्राज्य होने का कितना ही गर्व क्यों न करे, लेकिन ये साम्राज्य अस्थायी होते हैं; १०० या २०० वर्षों के बाद सब कुछ नष्ट हो जाता है। ऐसे सारे आर्थिक विकास यद्यपि अत्यन्त कठिनाई तथा प्रयत्न से सम्पन्न होते हैं, किन्तु तुरन्त ही समाप्त हो जाते हैं, इसीलिए इन्हें *चलाः* कहा गया है। बुद्धिमान व्यक्ति को यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि भौतिक आर्थिक विकास तनिक भी सुखकर नहीं होता। *भगवद्गीता* में सम्पूर्ण जगत को *दुःखालयम् अशाश्वतम्* अर्थात् दुःखमय तथा नश्वर कहा गया है। आर्थिक विकास भले ही कुछ काल तक सुखकर लगे किन्तु बहुत दिनों तक नहीं टिकता। इस प्रकार अनेक बड़े-बड़े उद्योगपति अब अत्यन्त संतप्त हैं क्योंकि लूटने वाली विभिन्न सरकारें उन्हें तंग करती हैं। निष्कर्ष यह है कि तथाकथित आर्थिक विकास के लिए अपना समय क्यों व्यर्थ किया जाये जो न तो स्थायी है, न आत्मा के लिए सुखकर है?

दूसरी ओर, भगवान् कृष्ण के साथ हमारा सम्बन्ध शाश्वत है। *नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम। शुद्ध आत्माएँ*

कृष्ण से निरन्तर प्रेम करती हैं और ऐसा स्थायी प्रेम, जो दास, सखा, माता-पिता या प्रेमी के रूप में हो सकता है, सरलता से पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। इस युग के लिए विशेष छूट है कि मनुष्य केवल हरे कृष्ण कीर्तन करके ईश्वर के साथ अपने मूल सम्बन्ध को फिर से जीवित कर सकता है (*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्*) और इस तरह वह इतना सुखी हो सकता है कि उसे किसी भौतिक वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया है— *न धनं न जन्मं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।* कृष्णभावनामृत में प्रगत भक्त धन, अनुयायी, सम्पत्ति कुछ भी नहीं चाहता। *रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।* भौतिक ऐश्वर्यों के स्वामित्व से उत्पन्न तृप्ति शूकरों-कूकरों के जीवन में भी देखी जाती है, भले ही वह दूसरे स्तर की हो किन्तु वे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को पुनःजागृत नहीं कर सकते। किन्तु मनुष्य जीवन में कृष्ण के साथ हमारे सुप्त शाश्वत सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित कर पाना सम्भव है। इसलिए प्रह्लाद महाराज ने इस जीवन को *अर्थदम्* कहा है। फलस्वरूप यदि हम अपना जीवन आर्थिक विकास में व्यर्थ न बिताकर कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करने में लगाएँ तो हमारा जीवन सफल हो जाये।

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
 क्षयिष्णावः सातिशया न निर्मलाः ।
 तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं
 भक्त्योक्तयेशं भजतात्मलब्धये ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी प्रकार (जिस तरह सांसारिक सम्पत्ति तथा कुटुम्बी नश्वर हैं); हि—निश्चय ही; लोकाः—उच्चतरलोक, यथा स्वर्ग, चन्द्रमा, सूर्य तथा ब्रह्मलोक; क्रतुभिः—बड़े-बड़े यज्ञों को सम्पन्न करने से; कृताः—प्राप्त किया; अमी—ये सब; क्षयिष्णावः—अस्थायी, नश्वर; सातिशयाः—यद्यपि अधिक आरामदेह तथा भाने वाले; न—नहीं; निर्मलाः—शुद्ध (उत्पातों से रहित); तस्मात्—इसलिए; अदृष्ट-श्रुत—न तो देखा हुआ, न सुना गया; दूषणम्—जिसकी त्रुटि; परम्—परम; भक्त्या—अत्यन्त भक्तिपूर्वक; उक्तया—जिस तरह वैदिक साहित्य में वर्णित है (ज्ञान कर्म मिश्रित नहीं); ईशम्—भगवान् को; भजत—पूजा करो; आत्म-लब्धये—आत्म-साक्षात्कार के लिए।

वैदिक साहित्य से पता चलता है कि बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके मनुष्य स्वर्गादि लोक तक ऊपर उठ सकता है। किन्तु स्वर्गलोक का जीवन पृथ्वी के जीवन की अपेक्षा सैकड़ों-हजारों गुना अधिक सुखकर होने पर भी स्वर्गलोक न तो शुद्ध (निर्मल) हैं, न भौतिक जगत के दोष से रहित हैं। सारे स्वर्गलोक भी नश्वर हैं, अतएव ये जीवन के लक्ष्य नहीं हैं। किन्तु यह न तो कभी देखा गया, न ही सुना गया कि भगवान् में उन्माद होता है। फलस्वरूप तुम्हें अपने निजी लाभ

तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए शास्त्रोक्त विधि से अत्यन्त भक्ति के साथ भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—यहाँ तक कि यदि कोई पशुओं की बलि देकर पापपूर्ण कृत्यों को सपन्न करके बड़े-बड़े यज्ञ करके स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाये तो भी स्वर्गलोक में सुख का स्तर कभी निरापद नहीं रहता। स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी ऐसा ही जीवन-संघर्ष करना होता है। इस प्रकार स्वर्ग प्राप्त कर लेने में कोई व्यावहारिक लाभ नहीं है। निस्सन्देह, पुण्यकर्मों के फल क्षीण होने पर मनुष्य को इसी पृथ्वी पर लौटना होता है। वेदों का कथन है—*तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयत*। जिस प्रकार कठिन श्रम से अर्जित यहाँ का भौतिक पद कालक्रम में समाप्त हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य का स्वर्ग-वास भी अन्तोगत्वा समाप्त हो जाता है। मनुष्य अपने पुण्य कर्मों की मात्रा के अनुसार विभिन्न प्रकार की योनियाँ प्राप्त करता है, किन्तु उनमें से एक भी स्थायी नहीं होती, अतएव वे सब अशुद्ध होती हैं। फलस्वरूप मनुष्य को चाहिए कि वह स्वर्गलोक जाने के लिए प्रयास न करे, क्योंकि उससे या तो पृथ्वी पर लौटना होगा या इससे भी नीचे नरक लोकों को जाना होगा। ऊपर जाने तथा नीचे आने के इस चक्र को समाप्त करने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

(*चैतन्य-चरितामृत, मध्य १९.१५१*)

जीव जन्म तथा मृत्यु के चक्र में घूम रहा है, कभी स्वर्गलोक जाता है, तो कभी अधोलोकों में जाता है, किन्तु यह तो जीवन की समस्याओं का कोई हल नहीं हुआ। हाँ, यदि कृष्णकृपा से किसी को कृष्णप्रतिनिधि, गुरु, मिल जाये तो वह आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करके भगवद्धाम जाने का संकेत पा सकता है। वास्तव में यही वांछनीय है। *भजतात्म-लब्धये*—मनुष्यों को आत्म-साक्षात्कार के लिए कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए।

यदर्थं इह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः ।
करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; अर्थ—लिए; इह—इस भौतिक जगत में; कर्माणि—अनेक कार्य (फैक्टरियों, उद्योगों, चिन्तन आदि में);
विद्वत्—ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा; मानी—मानने वाला; असकृत्—पुनः पुनः; नरः—पुरुष; करोति—करता है; अतः—इससे;
विपर्यासम्—विपरीत; अमोघम्—ध्रुव; विन्दते—प्राप्त करता है; फलम्—फल।

भौतिकतावादी मनुष्य अपने को अत्यन्त बुद्धिमान समझ कर निरन्तर आर्थिक विकास के लिए कर्म करता रहता है। किन्तु जैसाकि वेदों में बताया गया है, वह या तो इसी जीवन में या अगले जीवन में भौतिक कर्मों द्वारा बार-बार निराश होता रहता है। निस्सन्देह, उसे अपनी इच्छाओं से सर्वथा विपरीत फल मिलते हैं।

तात्पर्य : किसी को आज तक भौतिक कर्मों से मनवांछित फल नहीं प्राप्त हो सका। उल्टे, वह पुनः पुनः निराश होता रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह न तो इस जीवन में और न अगले जीवन में ऐसे इन्द्रिय सुख-कर्मों में अपना समय व्यर्थ गँवाए। अनेक राष्ट्रवादियों, अर्थशास्त्रियों तथा अन्य महत्त्वाकांक्षी पुरुषों ने अकेले या सामूहिक रूप से सुख के लिए प्रयत्न किए हैं किन्तु इतिहास से यह प्रकट है कि वे सब निराश हुए हैं। हमने अर्वाचीन इतिहास में अनेकानेक राजनीतिक नेताओं को व्यक्तिगत तथा सामूहिक आर्थिक विकास के लिए कठिन कार्य करते देखा है किन्तु वे सभी असफल रहे हैं। यह तो प्रकृति का नियम है, जैसाकि अगले श्लोक में स्पष्ट बताया गया है।

सुखाय दुःखमोक्षाय सङ्कल्प इह कर्मिणः ।
सदाप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सुखाय—जीवन के तथाकथित उच्चतर स्तर के द्वारा सुख प्राप्त करने के लिए; दुःख-मोक्षाय—दुख से छुटकारा पाने के लिए;
सङ्कल्पः—संकल्प; इह—इस संसार में; कर्मिणः—आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील जीव का; सदा—सदैव; आप्नोति—
प्राप्त करता है; ईहया—कर्म या महत्त्वाकांक्षा द्वारा; दुःखम्—केवल दुख; अनीहायाः—आर्थिक विकास न चाहते हुए; सुख—
सुख से; आवृतः—ढका हुआ।

इस भौतिक जगत में प्रत्येक भौतिकतावादी सुख का इच्छुक रहता है और अपने दुख कम करना चाहता है, अतएव वह तदनुसार कर्म करता है। किन्तु वास्तव में कोई तभी तक सुखी रहता है जब तक वह सुख के लिए प्रयत्नशील नहीं होता। ज्योंही वह सुख के लिए कार्य प्रारम्भ कर देता है त्योंही उसकी दुख की अवस्था प्रारम्भ होती है।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता में वर्णन हुआ है (प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैर्कर्माणि सर्वशः),

प्रत्येक बद्धजीव प्रकृति के नियमों से बँधा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति से एक विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त हुआ है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

“हे अर्जुन! भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन सारे जीवों को घुमा रहे हैं मानो वे भौतिक शक्ति से बने यंत्र पर आरूढ़ हों।” (*भगवद्गीता* १८.६१) भगवान् परमात्मा रूप में हर एक के हृदय में स्थित हैं और जीव जैसी इच्छा करता है उसी के अनुसार भगवान् उसे विभिन्न शरीरों में अपनी आकांक्षाओं के अनुसार कर्म करने की सुविधा प्रदान करते हैं। यह शरीर एक यंत्र के समान है, जिसके द्वारा मनुष्य सुख की मिथ्या इच्छा के अनुसार घूमता रहता है और जीवन के विभिन्न स्तरों में जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से पीड़ित होता रहता है। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी योजना तथा कामना से अपने कार्य प्रारम्भ करता है, किन्तु उसे अपनी योजना के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कोई सुख प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत ज्योंही वह अपनी योजना के अनुसार कार्य प्रारम्भ करता है त्योंही उसका कष्टमय जीवन शुरू हो जाता है। अतएव मनुष्य को जीवन की कष्टप्रद अवस्था को दूर करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसके लिए कोई कुछ नहीं कर सकता। *अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।* यद्यपि मनुष्य अपनी मिथ्या कामना के अनुसार कर्म करता रहता है, तथापि वह सोचता है कि अपने कर्मों से वह अपनी भौतिक स्थिति सुधार सकता है। वेदों का आदेश है कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो सुख बढ़ाने का, न ही दुखों को कम करने का प्रयास करे, क्योंकि यह सब व्यर्थ होता है। *तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः—*मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार के लिए कार्य करना चाहिए न कि आर्थिक विकास के लिए जिसको सुधार पाना असम्भव है। बिना प्रयास के ही उसके भाग्य में लिखा सुख तथा दुख मिलेगा। कोई इसे बदल नहीं सकता। अतएव श्रेयस्कर यही होगा कि मनुष्य अपना समय कृष्णभावनामृतमय आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में लगाए। मनुष्य होकर उसे अपने समय का अपव्यय नहीं करना चाहिए। यह अच्छा होगा कि तथाकथित सुख की कामना किये बिना कृष्णभावनामृत को विकसित करने में इस जीवन का उपयोग किया जाये।

कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः ।

स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कामान्—इन्द्रिय तृप्ति की वस्तुओं को; कामयते—इच्छा करता है; काम्यैः—विभिन्न अभिलिषित कार्यों द्वारा; यत्—जिस; अर्थम्—के लिए; इह—इस भौतिक जगत में; पूरुषः—जीवात्मा; सः—वह; वै—निस्सन्देह; देहः—शरीर; तु—लेकिन; पारक्यः—अन्यों का (कुत्ता, चील्हों इत्यादि का) ; भङ्गुरः—नश्वर; याति—चला जाता है; उपैति—आत्मा का आलिगन करता है; च—तथा ।

जीवात्मा अपने शरीर के लिए सुख चाहता है और इस उद्देश्य से वह अनेक योजनाएँ बनाता है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह शरीर तो दूसरों की सम्पत्ति होता है। निस्सन्देह, नश्वर शरीर जीवात्मा को गले लगाता है और फिर उसे छोड़कर चल देता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर के लिए सुविधा चाहता है और इसके लिए वह उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न करता है, किन्तु वह यह भूल जाता है कि वह शरीर कुत्तों, सियारों अथवा कीटों के भक्षण के लिए है और यह व्यर्थ मल-राख अथवा मिट्टी में परिणत हो जाता है। जीवात्मा प्रत्येक जन्म में एक शरीर के बाद दूसरे शरीर की सुविधा के लिए भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के व्यर्थ प्रयासों में अपना समय गँवाता है।

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः ।

राज्यकोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

किम् उ—क्या कहा जाये; व्यवहित—पृथक् किया गया; अपत्य—सन्तानें; दार—पत्नियाँ; अगार—निवासस्थान; धन—सम्पत्ति; आदयः—इत्यादि; राज्य—राज्य; कोश—खजाना; गज—बड़े बड़े हाथी तथा घोड़े; अमात्य—मंत्री; भृत्य—नौकर-चाकर; आप्ताः—सम्बन्धी; ममता—आस्पदाः—घनिष्ठ सम्बन्धियों के झूठे स्थान या घर (अपने लोग) ।

चूँकि शरीर को अन्ततः मल या मिट्टी में बदल जाना है अतएव इस शरीर से सम्बन्धित साज-सामान—यथा पत्नियाँ, घर, धन, बच्चे, सम्बन्धी, नौकर-चाकर, मित्र, राज्य, खजाने, पुश तथा मंत्रियों—से क्या प्रयोजन? ये सभी नश्वर हैं। इनके विषय में और अधिक क्या कहा जा सकता है?

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः ।

अनर्थैरर्थसङ्काशैर्नित्यानन्दरसोदधेः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; एतैः—इन सबों से; आत्मनः—अपने को; तुच्छैः—जो प्रायः नगण्य हैं; सह—साथ; देहेन—शरीर के; नश्वरैः—नाशवान; अनर्थैः—अनिच्छित; अर्थ-सङ्काशैः—ऐसा प्रतीत होता है मानो आवश्यक हों; नित्य-आनन्द—नित्य सुख के; रस—अमृत के; उदधेः—समुद्र के लिए।

ये सारे साज-सामान तभी तक अत्यन्त प्रिय लगते हैं जब तक यह शरीर है किन्तु ज्योंही यह शरीर नष्ट हो जाता है त्योंही शरीर से सम्बद्ध ये सारी वस्तुएँ भी समाप्त हो जाती हैं। अतएव वास्तव में किसी को इनसे कुछ लेना-देना नहीं रहता है किन्तु वह अज्ञानवश ही इन्हें मूल्यवान समझ बैठता है। शाश्वत सुख के सागर की तुलना में ये सारी वस्तुएँ अत्यन्त नगण्य हैं। शाश्वत जीव के लिए ऐसे नगण्य सम्बन्धों से क्या लाभ है?

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत या कृष्णभक्ति शाश्वत आनन्द का सागर है। इस शाश्वत आनन्द की तुलना में समाज के तथाकथित सुख, मित्रता तथा प्रेम व्यर्थ तथा नगण्य हैं। अतएव मनुष्य को अस्थायी वस्तुओं के लिए आसक्त नहीं होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत स्वीकार करके सदा के लिए सुखी बन जाये।

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान्देहभृतोऽसुराः ।

निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

निरूप्यताम्—निश्चित हो जाने दें; इह—इस संसार में; स्व-अर्थः—निजी लाभ; कियान्—कितना; देह-भृतः—शरीरधारी जीव का; असुराः—हे असुरपुत्रो; निषेक-आदिषु—मैथुन आदि से प्राप्त होने वाले सुख इत्यादि; अवस्थासु—नश्वर दशाओं में; क्लिश्यमानस्य—घोर कठिनाइयों को भोगने वाले का; कर्मभिः—पूर्वकर्मों के द्वारा।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, जीव को अपने पूर्वकर्मों के अनुसार नाना प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। इस तरह वह अपने विशिष्ट जीवन की सभी स्थितियों में—गर्भ में प्रवेश करने से लेकर अपने इस विशेष शरीर तक—कष्ट ही कष्ट भोगता प्रतीत होता है। अतएव तुम लोग पूरी तरह विचार करके मुझे बतलाओ कि जीव का ऐसे सकाम कर्मों में वास्तविक स्वार्थ क्या है, जबकि ये दुख तथा कष्ट प्रदान करने वाले हैं?

तात्पर्य : कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर मिलता है। इस संसार में मनुष्य के विशेष प्रकार के शरीर से प्राप्त होने वाला भौतिक आनन्द विषय-भोग पर आधारित है—यन्मैथुनादिगृहमेधि सुखं हि तुच्छम्। सारा संसार केवल मैथुन-सुख के लिए कठिन श्रम कर रहा है। मैथुन-सुख भोगने और भौतिक जीवन को बनाये रखने के लिए उसे

अत्यधिक श्रम करना पड़ता है और ऐसे कार्यों के कारण वह दूसरे भौतिक शरीर के लिए तैयारी करता रहता है। प्रह्लाद महाराज इस विषय को अपने असुर मित्रों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतया असुर लोग यह नहीं समझ सकते कि भौतिक जीवन का तथाकथित आनन्द अर्थात् मैथुन-सुख की सारी वस्तुएँ अत्यधिक कठिन श्रम पर निर्भर करती हैं।

कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना ।

कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—सकाम कर्म; आरभते—प्रारम्भ करता है; देही—देहधारी जीव; देहेन—उस शरीर से; आत्म-अनुवर्तिना—अपनी इच्छा तथा पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाला; कर्मभिः—ऐसे कर्मों के द्वारा; तनुते—विस्तीर्ण करता है; देहम्—दूसरा शरीर; उभयम्—दोनों; तु—निस्सन्देह; अविवेकतः—अज्ञान के कारण।

वह जीव, जिसे यह वर्तमान शरीर अपने विगत कर्म के कारण प्राप्त हुआ है, अपने इस जीवन में ही अपने कर्म के फलों को समाप्त कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह शरीर के बन्धन से मुक्त हो गया है। जीव को एक प्रकार का शरीर मिलता है और वह इस शरीर से कर्म करके दूसरे शरीर को जन्म देता है। इस प्रकार वह अपने अज्ञान के कारण जन्म-मरण के चक्र द्वारा एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता रहता है।

तात्पर्य : विभिन्न शरीरों से होकर जीव का विकास प्रकृति के नियमों द्वारा स्वतः चलता रहता है, मनुष्य को छोड़कर। दूसरे शब्दों में, जीव प्रकृति के नियमों द्वारा (प्रकृतेः क्रियमाणानि) निम्न योनियों से विकसित होकर मनुष्य योनि प्राप्त करता है। किन्तु अपनी विकसित चेतना के कारण मनुष्य को जीव की स्वाभाविक स्थिति समझनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि वह भौतिक शरीर क्यों स्वीकार करे। उसे यह अवसर प्रकृति द्वारा प्रदान किया जाता है किन्तु यदि इतने पर भी वह पशु की ही तरह कार्य करता है, तो उसके मनुष्य-जीवन से क्या लाभ? इस जीवन में मनुष्य को जीवन-लक्ष्य चुनकर उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। उसे गुरु तथा शास्त्रों से उपदेश ग्रहण करके काफी बुद्धिमान बन जाना चाहिए। मनुष्य जीवन में उसे मूर्ख तथा अज्ञानी नहीं बने रहना चाहिए अपितु उसे अपनी स्वाभाविक स्थिति के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यह अथातो ब्रह्मजिज्ञासा कहलाता है। मानव मनोविज्ञान से अनेक प्रश्न उठते हैं जिन पर विविध विचारकों ने मनन किया है और ज्ञान के आधार पर अनेक प्रकार के उत्तर दिये हैं। यह मोक्ष की विधी नहीं है। वैदिक आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं*

स गुरुमेवाभिगच्छेत्—जीवन की समस्याओं का हल निकालने के लिए गुरु बनाना चाहिए। तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमं—यदि कोई भौतिक जीवन की समस्या के विषय में जानने के लिए सचमुच उत्सुक है, तो उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए।

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

“गुरु के निकट जाकर सत्य जानने का प्रयास करो। उनसे विनीत भाव से प्रश्न करो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है क्योंकि उसने सत्य का दर्शन किया है।” (भगवद्गीता ४.३४) मनुष्य को चाहिए कि प्रणिपातेन अर्थात् शरण में जाकर तथा सेवा करके प्रामाणिक गुरु के निकट तक पहुँचे। बुद्धिमान मनुष्य को गुरु से जीवन-लक्ष्य के विषय में प्रश्न पूछना चाहिए। एक प्रामाणिक गुरु ऐसे समस्त प्रश्नों का उत्तर दे सकता है क्योंकि उसने असली सत्य को देखा है। हम अपने सामान्य कार्यकलापों तक में हानि-लाभ पर विचार करके ही सब कर्म करते हैं। इसी तरह बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि भौतिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार करे और तब प्रामाणिक गुरु के आदेशानुसार बुद्धिमत्तापूर्वक कर्म करे।

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः ।

भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; अर्थाः—आर्थिक विकास के लिए आकांक्षाएँ; च—तथा; कामाः—इन्द्रिय तृप्ति के लिए आकांक्षाएँ; च—भी; धर्माः—धर्म के कर्तव्य; च—तथा; यत्—जिस पर; अपाश्रयाः—आश्रित; भजत—पूजा करो; अनीहया—उनके लिए किसी प्रकार की इच्छा से रहित; आत्मानम्—परमात्मा को; अनीहम्—विरस; हरिम्—भगवान् को; ईश्वरम्—ईश्वर को।

आध्यात्मिक जीवन के चार सिद्धान्त—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—भगवान् की रुचि पर आश्रित हैं। अतएव हे मित्रो, भक्तों के चरणचिन्हों का अनुगमन करो। बिना किसी प्रकार की इच्छा किये (निष्काम भाव से) परमेश्वर पर आश्रित रहकर भक्तिपूर्वक परमात्मा की पूजा करो।

तात्पर्य : ये बुद्धिमानी के शब्द हैं। हर व्यक्ति को यह जान लेना चाहिए कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में हम भगवान् पर आश्रित हैं। अतएव हम जिस धर्म को स्वीकार करते हैं वह भावगत धर्म होना चाहिए जिसकी संस्तुति प्रह्लाद महाराज कर रहे हैं। यही कृष्ण का उपदेश है—सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। कृष्ण के चरणकमलों में शरण ग्रहण करने का अर्थ है भागवत धर्म या भक्ति के

विधि-विधानों के अनुसार कर्म करना। जहाँ तक आर्थिक विकास का सम्बन्ध है हमें अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्य करने चाहिए, किन्तु उनके फलों के लिए भगवान् के चरणकमलों पर पूर्णरूपेण आश्रित रहना चाहिए। *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्*—तुम्हें अपने वृत्तिपरक कर्तव्य करने का अधिकार तो है, किन्तु कर्म के फलों का अधिकार तुम्हें नहीं है। मनुष्य को अपने पद के अनुसार अपने कर्तव्य करने चाहिए किन्तु फल के लिए कृष्ण पर पूरी तरह आश्रित रहना चाहिए। नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं कि हमारी एकमात्र कामना यही होनी चाहिए कि हम कृष्णभावनामृत के कार्यों को सम्पन्न करें। हमें *कर्म-मीमांसा* दर्शन से भ्रमित नहीं होना चाहिए जिसके अनुसार यदि हम गम्भीरतापूर्वक अपना कर्तव्य करते रहें तो उसका फल स्वतः प्राप्त हो जाएगा। यह तथ्य नहीं है। अन्तिम फल तो भगवान् की इच्छा पर निर्भर करता है। अतएव भक्ति में भक्त भगवान् पर पूर्णतः आश्रित रहता है और दम्भहीन होकर अपने वृत्तिपरक कर्तव्य सम्पन्न करता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने अपने मित्रों को सलाह दी कि वे कृष्ण पर पूरी तरह निर्भर रहें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें।

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः ।

भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सर्वेषाम्—समस्त; अपि—निश्चय ही; भूतानाम्—जीवों में से; हरिः—भगवान् जो जीव के कष्टों को शमन करने वाले हैं; आत्मा—जीवन का आदि स्रोत; ईश्वरः—पूर्ण नियन्ता; प्रियः—प्रिय; भूतैः—पाँच भौतिक तत्त्वों द्वारा; महद्भिः—समग्र भौतिक शक्ति महत् तत्त्व से उद्भूत; स्व-कृतैः—जो स्वतः प्रकट होते हैं; कृतानाम्—उत्पन्न; जीव-संज्ञितः—जीव के नाम से ज्ञात, क्योंकि सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति के अंश हैं।

भगवान् हरि समस्त जीवों के आत्मा तथा परमात्मा हैं। प्रत्येक जीव जीवित आत्मा तथा भौतिक शरीर के रूप में उनकी शक्ति का प्राकट्य है। अतएव भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं और परम नियन्ता हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर अपनी विविध शक्तियों—भौतिक, आध्यात्मिक तथा तटस्था शक्तियों—द्वारा प्रकट होते हैं। वे इस भौतिक जगत में समस्त जीवों के आदि स्रोत हैं और हर एक के हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान हैं। यद्यपि जीव अपने विभिन्न प्रकार के शरीरों का कारण है, किन्तु शरीर तो भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदान किया जाता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्राभयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।

“हे अर्जुन! भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन सबको घुमा रहे हैं, जो मानो भौतिक शक्ति से बने एक यंत्र पर आरूढ़ हैं।” (भगवद्गीता १८.६१) यह शरीर एक यंत्र या कार के समान है, जिसमें जीव को बैठाकर इच्छानुसार घूमने का अवसर प्रदान किया जाता है। भगवान् भौतिक शरीर तथा आत्मा के आदि कारण हैं, जो उनकी तटस्था शक्ति के कारण विस्तार करता है। परमेश्वर समस्त जीवों के सर्वाधिक प्रिय हैं। अतएव प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को, जो असुरों के पुत्र हैं, सलाह देते हैं कि वे पुनः परमेश्वर की शरण ग्रहण करें।

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा ।

भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान्न्याद्यथा वयम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

देवः—देवता; असुरः—असुर; मनुष्यः—मनुष्य; वा—अथवा; यक्षः—यक्ष (आसुरी योनि का सदस्य); गन्धर्वः—गन्धर्व; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; भजन्—सेवा करते हुए; मुकुन्द-चरणम्—मुक्तिदाता मुकुन्द या भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर; स्वस्ति-मान्—समस्त कल्याण से ओत-प्रोत; स्यात्—हो जाता है; यथा—जिस प्रकार; वयम्—हम (प्रह्लाद महाराज)।

यदि देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व या अन्य कोई इस संसार के भीतर मुक्तिदाता मुकुन्द के चरणकमलों की सेवा करता है, तो वह हमारे (प्रह्लाद महाराज जैसे महाजनों के) ही समान जीवन की सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी स्थितियों कल्याण का भाजन होता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने अपना ही जीता-जागता उदाहरण देते हुए अपने मित्रों से अनुरोध किया कि वे भक्ति में लग जाँए। चाहे कोई देव समाज का हो या असुर समाज, मानव समाज या गन्धर्व समाज का, प्रत्येक जीव को मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए और सौभाग्य में पूर्ण बनना चाहिए।

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥ ५१ ॥

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अलम्—पर्याप्त; द्विजत्वम्—अत्यन्त पूर्ण एवं योग्य ब्राह्मण होना; देवत्वम्—देवत्व; ऋषित्वम्—साधु पुरुष होना; वा—अथवा; असुर-आत्म-जाः—हे असुरों के वंशजो; प्रीणनाय—प्रसन्न करने के लिए; मुकुन्दस्य—भगवान् मुकुन्द का; न

वृत्तम्—बुरा आचरण; न—नहीं; बहु-ज्ञता—पाण्डित्य; न—न तो; दानम्—दान; न—न तो; तपः—तपस्या; न—न तो; इज्या—पूजा; न—न तो; शौचम्—स्वच्छता; न व्रतानि—न व्रतों का पालन; च—भी; प्रीयते—प्रसन्न किया जाता है; अमलया—निष्कलंक; भक्त्या—भक्ति द्वारा; हरिः—भगवान्; अन्यत्—अन्य वस्तुएँ; विडम्बनम्—मात्र दिखावा।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, तुम लोग न तो पूर्ण ब्राह्मण, देवता या महान् सन्त बनकर, न ही सदाचरण या प्रकाण्ड ज्ञान के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न कर सकते हो। इनमें से किसी भी योग्यता से भगवान् प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। न ही दान, तपस्या, यज्ञ, शुद्धता या व्रतों से उन्हें कोई प्रसन्न कर सकता है। भगवान् तो तभी प्रसन्न होते हैं जब मनुष्य उनकी अविचल अनन्य भक्ति करता है। एकनिष्ठ भक्ति के बिना सब कुछ दिखावा मात्र है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परमेश्वर की सभी प्रकार से निष्ठापूर्वक सेवा करने पर ही कोई पूर्ण बन सकता है। ईश्वर-प्रेम विकसित करने के लिए ब्राह्मण, देवता, ऋषि जैसे भौतिक उच्च पद कारणस्वरूप नहीं हैं किन्तु यदि कोई निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो उसकी कृष्ण-चेतना पूरी हो जाती है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (९.३०) होती है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

“भले ही कोई अत्यन्त निन्दनीय कार्य क्यों न करे, किन्तु यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो वह साधु माना जाता है, क्योंकि वह सम्यक् रीति से अवस्थित होता है।” जीवन की पूर्णता इसी में है कि कृष्ण के लिए अनन्य प्रेम उत्पन्न किया जाये। इसमें अन्य विधियाँ भी सहायक हो सकती हैं, किन्तु यदि कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं होता तो अन्य सारी विधियाँ समय का अपव्यय मात्र हैं।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विष्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

“मनुष्यों के द्वारा किसी भी व्यवसाय से सम्बन्धित किये गये कर्तव्य (धर्म) व्यर्थ श्रम होते हैं यदि वे भगवान् के प्रति आकर्षण न उत्पन्न कर सकें।” (*भागवत* १.२.८) किसी की पूर्णता की परीक्षा भगवान् के प्रति उसकी अनन्य भक्ति है।

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

ततः—अतएव; हरौ—भगवान् हरि के प्रति; भगवति—भगवान्; भक्तिम्—भक्ति; कुरुत—करो; दानवाः—मेरे मित्रों, असुरपुत्रों; आत्म-औपम्येन—अपनी ही तरह; सर्वत्र—सभी जगह; सर्व-भूत-आत्मनि—जो समस्त जीवों में आत्मा तथा परमात्मा के रूप में स्थित है; ईश्वरे—नियन्ता भगवान् में।

हे मित्र असुरपुत्रो, जिस प्रकार तुम सब अपने आपको देखते हो और अपनी देखभाल करते हो उसी तरह समस्त जीवों में परमात्मा के रूप में सर्वत्र विद्यमान रहने वाले भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उनकी भक्ति स्वीकार करो।

तात्पर्य : आत्मौपम्येन शब्द का अर्थ है अपने ही समान अन्यो को समझना। मनुष्य आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि बिना भक्ति के, बिना कृष्णभावनाभावित हुए कोई सुखी नहीं रह सकता। अतएव भक्तों का कर्तव्य है कि विश्व भर में सर्वत्र कृष्णभावनामृत का प्रचार करें, क्योंकि कृष्णभावनामृत के अभाव में सारे जीव सांसारिक यातनाएँ झेल रहे हैं। कृष्णभावनामृत का प्रचार सर्वश्रेष्ठ कल्याण-कार्य है। निस्सन्देह, श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसे पर-उपकार कहा है। जिन लोगों ने भारत भूमि में मनुष्य रूप में जन्म लिया है उन्हें पर-उपकार करने का कार्य भार विशेषरूप में सौंपा गया है।

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार ॥

सारा संसार कृष्णभावनामृत के अभाव से पीड़ित है (चै.च. आदि ९.४१) अतएव चैतन्य महाप्रभु ने भारत में जन्म लेने वाले सारे मनुष्यों को उपदेश दिया है कि कृष्णभावनामृत द्वारा अपने जीवन को पूर्ण बनाएँ और फिर सारे विश्व में इस दिव्य सन्देश का उपदेश दें जिससे अन्य लोग कृष्णभावनामृत के नियमों का पालन करके सुखी बन सकें।

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः ।

खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

दैतेयाः—हे असुरो; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षस कहलाने वाले; स्त्रियः—स्त्रियाँ; शूद्राः—श्रमिक वर्ग; व्रज-ओकसः—ग्रामीण ग्वाले; खगाः—पक्षी; मृगाः—पशु; पाप-जीवाः—पापी जीव; सन्ति—हो सकते हैं; हि—निश्चय ही; अच्युतताम्—अच्युत भगवान् के गुण को; गताः—प्राप्त।

हे मित्रो! हे असुरपुत्रो, प्रत्येक व्यक्ति जिसमें तुम भी शामिल हो, (यक्ष तथा राक्षस) अज्ञानी

स्त्रियाँ, शूद्र, ग्वाले, पक्षी, निम्नतर पशु तथा पापी जीव अपना-अपना मूल शाश्वत आध्यात्मिक जीवन पुनः प्राप्त कर सकते हैं और भक्तियोग के सिद्धान्तों को स्वीकार करने मात्र से सदा-सदा इसी तरह बने रह सकते हैं।

तात्पर्य : भक्तों को *अच्युत गोत्र* अर्थात् भगवान् का वंश कहा जाता है। भगवान् *अच्युत* कहलाते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में इंगित किया गया है (*सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत्*)। भगवान् इस जगत में अच्युत हैं क्योंकि वे परम आध्यात्मिक पुरुष हैं। इसी प्रकार भगवान् के अंश होने के कारण जीव भी अच्युत बन सकते हैं। यद्यपि प्रह्लाद की माता बद्ध अवस्था में थीं और असुर की पत्नी थीं, लेकिन यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र यहाँ तक कि पक्षी तथा अन्य निम्नतर जीव भी *अच्युत गोत्र* को प्राप्त हो सकते हैं। यही सर्वोच्च सिद्धि है। जिस प्रकार कृष्ण कभी च्युत नहीं होते उसी प्रकार जब हम अपनी आध्यात्मिक चेतना, कृष्णभावनामृत, को पुनः जाग्रत कर लेते हैं, तो हम पुनः भवसागर में नहीं गिरते। मनुष्य को चाहिए कि परम अच्युत श्रीकृष्ण की स्थिति को समझे जिन्होंने *भगवद्गीता* (४.९) में कहा है :

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कार्यो की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह अपना शरीर त्यागने के बाद इस जगत में पुनः जन्म नहीं लेता बल्कि मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।” मनुष्य को चाहिए कि अच्युत को समझे और यह भी समझे कि हम उनसे किस प्रकार सम्बद्ध हैं। उसे भगवान् की सेवा करनी चाहिए। यही जीवन की पूर्णता है। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं— *अच्युततां च्युतिवर्जन्म्।* *अच्युतता* शब्द उस मनुष्य का सूचक है, जो इस जगत में कभी नहीं गिरता, अपितु भगवान् की सेवा में सदा लगा हुआ वैकुण्ठ लोक में रहता आ रहा है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।

एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—निश्चय ही; लोके अस्मिन्—इस जगत में; पुंसः—जीव का; स्व-अर्थः—असली हित; परः—दिव्य; स्मृतः—माना जाने वाला; एकान्त-भक्तिः—अनन्य भक्ति; गोविन्दे—गोविन्द के प्रति; यत्—जो; सर्वत्र—सभी तरह; तत्-ईक्षणम्—गोविन्द या कृष्ण के साथ सम्बन्ध को देखना।

इस भौतिक जगत में समस्त कारणों के कारण गोविन्द के चरणकमलों के प्रति सेवा करना और सर्वत्र उनका दर्शन करना ही एकमात्र जीवन-लक्ष्य है। जैसाकि समस्त शास्त्रों ने बतलाया है मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य इतना ही है।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत सर्वत्र तदीक्षणम् शब्द भक्ति की चरम सिद्धि को बताते हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु गोविन्द के कार्यकलापों से सम्बद्ध दिखती है। अतएव उच्च भक्त (महाभागवत) कभी भी किसी वस्तु को गोविन्द से असम्बद्ध नहीं देखता।

स्थावर-जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्ति।

सर्वत्र हय निज इष्टदेव-स्फूर्ति ॥

“महाभागवत प्रत्येक चल तथा अचल वस्तु को देखता है लेकिन वह उनके वास्तविक रूपों को नहीं देखता। प्रत्युत वह जहाँ कहीं भी देखता है, वहीं उसे परमेश्वर का रूप प्रकट दिखता है।” (चैतन्य-चरितामृत, मध्य ८.२७४) यहाँ तक कि इस जगत में भी भक्त भौतिकरूप से प्रकट होने वाली वस्तुओं को नहीं देखता, इसके बदले में वह हर वस्तु में गोविन्द के दर्शन करता है। जब कोई भक्त किसी वृक्ष या मनुष्य को देखता है, तो वह उन्हें गोविन्द रूप में देखता है। गोविन्दमादिपुरुषम्—गोविन्द प्रत्येक वस्तु के आदि स्रोत हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

“गोविन्द कहलाने वाले कृष्ण परम नियन्ता है। सच्चिदानन्द रूप हैं। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं।” (ब्रह्म-संहिता ५.१) एक पूर्ण भक्त की पहचान यही है कि वह इस ब्रह्माण्ड में गोविन्द के सर्वत्र दर्शन करता है, यहाँ तक कि एक परमाणु में भी (अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्)। भक्त की यही पूर्ण दृष्टि है। इसीलिए कहा गया है—

नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थिनः।

जगद् धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम् ॥

भक्त हर एक को नारायण रूप में देखता है (*नारायणमयम्*) । प्रत्येक वस्तु नारायण की शक्ति का विस्तार है । जिस प्रकार लोभी को प्रत्येक वस्तु कमाई का साधन प्रतीत होती है और जिस प्रकार कामी को सारी वस्तु काम के लिए अनुकूल लगती हैं उसी तरह परम पूर्ण भक्त प्रह्लाद महाराज ने एक एत्थर के ख भे के भीतर भी नारायण को देखा । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम किसी भ्रष्ट व्यक्ति द्वारा गढ़े गये *दरिद्र नारायण* शब्द को स्वीकार करें । वास्तव में जो नारायण का सर्वत्र दर्शन करता है, वह *दरिद्र* तथा *धनी* में कोई अन्तर नहीं करता । *दरिद्र नारायण* को चुनना और *धनी नारायण* का परित्याग—भक्त की यह दृष्टि नहीं होती प्रत्युत यह भौतिकतावादी व्यक्तियों की अपूर्ण दृष्टि है ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत “*प्रह्लाद ने गर्भ में क्या सीखा*” नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए ।